

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

## अथ नवमोऽध्यायः

### अवतरणिका—

सातवें अध्यायमें भगवान्‌के द्वारा विज्ञानसहित ज्ञान कहनेका जो प्रवाह चल रहा था, उसके बीचमें ही अर्जुनने आठवें अध्यायके आरम्भमें सात प्रश्न कर लिये। उनमेंसे छः प्रश्नोंका उत्तर भगवान्‌ने संक्षेपसे देकर अन्तकालीन गतिविषयक सातवें प्रश्नका उत्तर विस्तारसे दिया।

अब सातवें अध्यायमें कहनेसे बचे हुए उसी विज्ञानसहित ज्ञानके विषयको विलक्षण रीतिसे कहनेके लिये भगवान्‌ नवें अध्यायका विषय आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।  
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

इदम्	= यह	ते	= तेरे लिये	ज्ञात्वा	= जानकर (तू)
गुह्यतमम्	= अत्यन्त गोपनीय	तु	= तो (मैं फिर)	अशुभात्	= अशुभसे अर्थात्
विज्ञानसहितम्	= विज्ञानसहित	प्रवक्ष्यामि	= अच्छी तरहसे		जन्म-मरणरूप
ज्ञानम्	= ज्ञान		कहूँगा,		संसारसे
अनसूयवे	= दोषदृष्टिरहित	यत्	= जिसको	मोक्ष्यसे	= मुक्त हो जायगा।

व्याख्या—‘इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे’— भगवान्‌के मनमें जिस तत्त्वको, विषयको कहनेकी इच्छा है, उसकी तरफ लक्ष्य करानेके लिये ही यहाँ भगवान्‌ सबसे पहले ‘इदम्’ (यह) शब्दका प्रयोग करते हैं। उस (भगवान्‌के मन-बुद्धिमें स्थित) तत्त्वकी महिमा कहनेके लिये ही उसको ‘गुह्यतमम्’ कहा है अर्थात् वह तत्त्व अत्यन्त गोपनीय है। इसीको आगेके श्लोकमें ‘राजगुह्यम्’ और अठारहवें अध्यायके चौसठवें श्लोकमें ‘सर्वगुह्यतमम्’ कहा है।

यहाँ पहले ‘गुह्यतमम्’ कहकर पीछे (गीता ९। ३४ में) ‘मन्मना भव .....’ कहा है और अठारहवें अध्यायमें पहले ‘सर्वगुह्यतमम्’ कहकर पीछे (गीता १८। ६५ में) ‘मन्मना भव .....’ कहा है। तात्पर्य है कि यहाँका और वहाँका विषय एक ही है, दो नहीं।

यह अत्यन्त गोपनीय तत्त्व हरेकके सामने नहीं कहा

जा सकता; क्योंकि इसमें भगवान्‌ने खुद अपनी महिमाका वर्णन किया है। जिसके अन्तःकरणमें भगवान्‌के प्रति थोड़ी भी दोषदृष्टि है, उसको ऐसी गोपनीय बात कही जाय, तो वह ‘भगवान्‌ आत्मश्लाघी हैं—अपनी प्रशंसा करनेवाले हैं’ ऐसा उलटा अर्थ ले सकता है। इसी बातको लेकर भगवान्‌ अर्जुनके लिये ‘अनसूयवे’ विशेषण देकर कहते हैं कि भैया! तू दोष-दृष्टिरहित है, इसलिये मैं तेरे सामने अत्यन्त गोपनीय बातको फिर अच्छी तरहसे कहूँगा अर्थात् उस तत्त्वको भी कहूँगा और उसके उपायोंको भी कहूँगा—‘प्रवक्ष्यामि’।

‘प्रवक्ष्यामि’ पदका दूसरा भाव है कि मैं उस बातको विलक्षण रीतिसे और साफ-साफ कहूँगा अर्थात् मात्र मनुष्य मेरे शरण होनेके अधिकारी हैं। चाहे कोई दुराचारी-से-दुराचारी, पापी-से-पापी क्यों न हो तथा किसी वर्णका, किसी आश्रमका, किसी सम्प्रदायका, किसी देशका, किसी

वेशका, कोई भी क्यों न हो, वह भी मेरे शरण होकर मेरी प्राप्ति कर लेता है—यह बात मैं विशेषतासे कहूँगा।

सातवें अध्यायमें भगवान्‌के मनमें जितनी बातें कहनेकी आ रही थीं, उतनी बातें वे नहीं कह सके। इसलिये भगवान्‌ यहाँ 'तू' पद देते हैं कि उसी विषयको मैं फिर कहूँगा।

'ज्ञानं विज्ञानसहितम्'—भगवान्‌ इस सम्पूर्ण जगत्‌के महाकारण हैं—ऐसा दृढ़तासे मानना 'ज्ञान' है और भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई (कार्य-कारण) तत्त्व नहीं है—ऐसा अनुभव होना 'विज्ञान' है। इस विज्ञानसहित ज्ञानके लिये ही इस श्लोकके पूर्वार्धमें 'इदम्' और 'गुह्यतमम्'—ये दो विशेषण आये हैं।

### ज्ञान और विज्ञान-सम्बन्धी विशेष बात

इस ज्ञान-विज्ञानको जानकर तू अशुभ संसारसे मुक्त हो जायगा। यह ज्ञान-विज्ञान ही राजविद्या, राजगुह्य आदि है। इस धर्मपर जो श्रद्धा नहीं करते, इसपर विश्वास नहीं करते, इसको मानते नहीं, वे मौतरूपी संसारके रास्तेमें पड़ जाते हैं और बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं (पहलेसे तीसरे श्लोकतक)—ऐसा कहकर भगवान्‌ने 'ज्ञान' बताया। अव्यक्तमूर्ति मेरेसे ही यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है अर्थात्‌ सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ; दूसरा कोई है ही नहीं (चौथेसे छठे श्लोकतक)—ऐसा कहकर भगवान्‌ने 'विज्ञान' बताया।

प्रकृतिके परवश हुए सम्पूर्ण प्राणी महाप्रलयमें मेरी प्रकृतिको प्राप्त हो जाते हैं और महासर्गके आदिमें मैं फिर उनकी रचना करता हूँ। परन्तु वे कर्म मेरेको बाँधते नहीं। उनमें मैं उदासीनकी तरह अनासक्त रहता हूँ। मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति सम्पूर्ण प्राणियोंकी रचना करती है। मेरे परम भावको न जानते हुए मूढ़लोग मेरी अवहेलना करते हैं। राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेनेवालोंकी आशा, कर्म, ज्ञान सब व्यर्थ हैं। महात्मालोग दैवी प्रकृतिका आश्रय लेकर और मेरेको सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि मानकर मेरा भजन करते हैं। मेरेको नमस्कार करते हैं। कई ज्ञानयज्ञके द्वारा एकीभावसे मेरी उपासना करते हैं; आदि-आदि (सातवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक)—ऐसा कहकर भगवान्‌ने 'ज्ञान' बताया। मैं ही क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध आदि हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ अर्थात्‌ कार्य-कारणरूपसे जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ (सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक)—ऐसा कहकर 'विज्ञान' बताया।

जो यज्ञ करके स्वर्गमें जाते हैं, वे वहाँपर सुख भोगते हैं और पुण्य समाप्त होनेपर फिर लौटकर मृत्युलोकमें आते हैं। अनन्यभावसे मेरा चिन्तन करनेवालेका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ। श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंका पूजन करनेवाले वास्तवमें मेरा ही पूजन करते हैं, पर करते हैं अविधिपूर्वक। जो मुझे सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी नहीं मानते, उनका पतन हो जाता है। जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक पत्र, पुष्प आदिको तथा सम्पूर्ण क्रियाओंको मेरे अर्पण करते हैं, वे शुभ-अशुभ कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं (बीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक)—ऐसा कहकर भगवान्‌ने 'ज्ञान' बताया। मैं सम्पूर्ण भूतोंमें सम हूँ। मेरा कोई प्रेम या द्वेषका पात्र नहीं है। परन्तु जो मेरा भजन करते हैं वे मेरेमें और मैं उनमें हूँ (उनतीसवाँ श्लोक)—ऐसा कहकर 'विज्ञान' बताया। इसके आगेके पाँच श्लोक (तीसवेंसे चौतीसवें श्लोकतक) इस विज्ञानकी व्याख्यामें ही कहे गये हैं\*।

'यज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'—असत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ना ही 'अशुभ' है, जो कि ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है। असत्‌-(संसार-) के साथ अपना सम्बन्ध केवल माना हुआ है, वास्तविक नहीं है। जिसके साथ वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता, उसीसे मुक्ति होती है। अपने स्वरूपसे कभी किसीकी मुक्ति नहीं होती। अतः मुक्ति उसीसे होती है, जो अपना नहीं है; किन्तु जिसको भूलसे अपना मान लिया है। इस भूलजनित मान्यतासे ही मुक्ति होती है। भूलजनित मान्यताको न माननेमात्रसे ही उससे मुक्ति हो जाती है। जैसे, कपड़ेमें मैल लग जानेपर उसको साफ किया जाता है, तो मैल छूट जाता है। कारण कि मैल आगन्तुक है और मैलकी अपेक्षा कपड़ा पहलेसे है अर्थात्‌ मैल और कपड़ा दो हैं, एक नहीं। ऐसे ही भगवान्‌का अविनाशी अंश यह जीव भगवान्‌से विमुख होकर जिस किसी योनिमें जाता है, वहाँपर मैं-मेरापन करके शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है अर्थात्‌ मैल चढ़ा लेता है और जन्मता-मरता रहता है। जब यह अपने स्वरूपको जान लेता है अथवा भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब यह अशुभ सम्बन्धसे मुक्त हो जाता है अर्थात्‌ उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसी भावको लेकर भगवान्‌ यहाँ अर्जुनसे कहते हैं कि इस तत्त्वको जानकर तू अशुभसे मुक्त हो जायगा।

\* यहाँ ज्ञानके वर्णनमें विज्ञान और विज्ञानके वर्णनमें ज्ञान नहीं है—ऐसी बात नहीं है।

**परिशिष्ट भाव**—संसार 'प्रकट' है। कर्मयोग (निष्कामभाव) प्रकट न होनेसे 'गुह्य' है। उससे भी गुप्त होनेसे ज्ञानयोग (आत्मज्ञान) 'गुह्यतर' है। ज्ञानयोगसे भी गुप्त होनेसे भक्तियोग (परमात्मज्ञान) 'गुह्यतम' है। गुह्य और गुह्यतर तो लौकिक हैं, पर गुह्यतम अलौकिक है।

ब्रह्मलोकतकके सभी लोक पुनरावर्ती होनेसे 'अशुभ' हैं (गीता—आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)। गुह्यतम विषयको जान लेनेसे मनुष्य अशुभसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। अशुभसे मुक्ति तो कर्मयोग और ज्ञानयोगसे भी हो जाती है, पर यहाँ अशुभसे मुक्ति होनेका तात्पर्य है—एक परमात्माके सिवाय अन्यकी किंचिन्मात्र भी सत्ता न रहे, अहम्की वह सूक्ष्म गन्ध भी न रहे, जिससे दार्शनिक मतभेद पैदा होते हैं।

अपने स्वरूपको जानना 'ज्ञान' है और समग्र भगवान्को जानना 'विज्ञान' है। निर्गुणके अन्तर्गत तो सगुण (समग्र) नहीं आ सकता, पर सगुणके अन्तर्गत निर्गुण भी आ जाता है, इसलिये सगुणका ज्ञान 'विज्ञान' अर्थात् विशेष ज्ञान है।

*सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें विज्ञानसहित ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके उसका परिणाम अशुभसे मुक्त होना बताया। अब आगेके श्लोकमें उसी विज्ञानसहित ज्ञानकी महिमाका वर्णन करते हैं।*

**राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।  
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥**

<b>इदम्</b>	= यह (विज्ञानसहित ज्ञान अर्थात् समग्ररूप)	<b>पवित्रम्</b>	= यह अति पवित्र (तथा)	<b>धर्म्यम्</b>	= यह धर्ममय है,
<b>राजविद्या</b>	= सम्पूर्ण विद्याओंका राजा (और)	<b>उत्तमम्</b>	= अतिश्रेष्ठ है (और)	<b>अव्ययम्</b>	= अविनाशी है (और)
<b>राजगुह्यम्</b>	= सम्पूर्ण गोपनीयोंका राजा है।	<b>प्रत्यक्षावगमम्</b>	= इसका फल भी प्रत्यक्ष है।	<b>कर्तुम्</b>	= करनेमें
				<b>सुसुखम्</b>	= बहुत सुगम है अर्थात् इसको प्राप्त करना बहुत सुगम है।

**व्याख्या**—'राजविद्या'—यह विज्ञानसहित ज्ञान सम्पूर्ण विद्याओंका राजा है; क्योंकि इसको ठीक तरहसे जान लेनेके बाद कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता।

भगवान्ने सातवें अध्यायके आरम्भमें कहा है कि 'मेरे समग्ररूपको जाननेके बाद जानना कुछ बाकी नहीं रहता।' पन्द्रहवें अध्यायके अन्तमें कहा है कि 'जो असम्मूढ़ पुरुष मेरेको क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम जानता है, वह सर्ववित् हो जाता है अर्थात् उसको जानना कुछ बाकी नहीं रहता', इससे ऐसा मालूम होता है कि भगवान्के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त आदि जितने स्वरूप हैं, उन सब स्वरूपोंमें भगवान्के सगुण-साकार स्वरूपकी बहुत विशेष महिमा है।

'राजगुह्यम्'—संसारमें रहस्यकी जितनी गुप्त बातें हैं, उन सब बातोंका यह राजा है; क्योंकि संसारमें इससे बड़ी दूसरी कोई रहस्यकी बात है ही नहीं।

जैसे नाटकमें सबके सामने खेलता हुआ कोई पात्र अपना असली परिचय दे देता है, तो उसका परिचय देना

विशेष गोपनीय बात है; क्योंकि वह नाटकमें जिस स्वाँगमें खेलता है, उसमें वह अपने असली रूपको छिपाये रखता है। ऐसे ही भगवान् जब मनुष्यरूपमें लीला करते हैं, तब अभक्त लोग उनको मनुष्य मानकर उनकी अवज्ञा करते हैं। इससे भगवान् उनके सामने अपने-आपको प्रकट नहीं करते (गीता—सातवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक)। परन्तु जो भगवान्के ऐकान्तिक प्यारे भक्त होते हैं, उनके सामने भगवान् अपने-आपको प्रकट कर देते हैं—यह अपने-आपको प्रकट कर देना ही अत्यन्त गोपनीय बात है।

'पवित्रमिदम्'—इस विद्याके समान पवित्र करनेवाली दूसरी कोई विद्या है ही नहीं अर्थात् यह विद्या पवित्रताकी आखिरी हद है। पापी-से-पापी, दुराचारी-से-दुराचारी भी इस विद्यासे बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जाता है अर्थात् पवित्र बन जाता है और शाश्वती शान्तिको प्राप्त कर लेता है (नवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)।

दसवें अध्यायमें अर्जुनने भगवान्को परम पवित्र बताया—'पवित्रं परमं भवान्' (१०। १२); चौथे

अध्यायमें भगवान्ने ज्ञानको पवित्र बताया—‘न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते’ (४।३८) और यहाँ राजविद्या आदि आठ विशेषण देकर विज्ञानसहित ज्ञानको पवित्र बताते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पवित्र परमात्माका नाम, रूप, लीला, धाम, स्मरण, कीर्तन, जप, ध्यान, ज्ञान आदि सब पवित्र हैं अर्थात् भगवत्सम्बन्धी जो कुछ है, वह सब महान् पवित्र है और प्राणिमात्रको पवित्र करनेवाला है\*।

‘उत्तमम्’—यह सर्वश्रेष्ठ है। इसके समकक्ष दूसरी कोई वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि है ही नहीं। यह श्रेष्ठताकी आखिरी हद है, क्योंकि इस विद्यासे मेरा भक्त सर्वश्रेष्ठ हो जाता है। इतना श्रेष्ठ हो जाता है कि मैं भी उसकी आज्ञाका पालन करता हूँ।

इस विज्ञानसहित ज्ञानको जानकर जो मनुष्य इसका अनुभव कर लेते हैं, उनके लिये भगवान् कहते हैं कि ‘वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ’—‘मयि ते तेषु चाप्यहम्’ (९।२९) अर्थात् वे मेरेमें तल्लीन होकर मेरा स्वरूप ही बन जाते हैं।

‘प्रत्यक्षावगमम्’—इसका फल प्रत्यक्ष है। जो मनुष्य इस बातको जितना जानेगा, वह उतना ही अपनेमें विलक्षणताका अनुभव करेगा। इस बातको जानते ही परमगति प्राप्त हो जाय—यह इसका प्रत्यक्ष फल है।

‘धर्म्यम्’—यह धर्ममय है। परमात्माका लक्ष्य होनेपर निष्कामभावपूर्वक जितने भी कर्तव्य-कर्म किये जायँ, वे सब-के-सब इस धर्मके अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः यह विज्ञानसहित ज्ञान सभी धर्मोंसे परिपूर्ण है।

दूसरे अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनको कहा कि इस धर्ममय युद्धके सिवाय क्षत्रियके लिये दूसरा कोई श्रेयस्कर साधन नहीं है—‘धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न

विद्यते’ (२।३१)। इससे यही सिद्ध होता है कि अपने-अपने वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार शास्त्रविहित जितने कर्तव्य-कर्म हैं, वे सभी धर्म्य हैं। इसके सिवाय भगवत्प्राप्तिके जितने साधन हैं और भक्तोंके जितने लक्षण हैं, उन सबका नाम भगवान्ने ‘धर्म्यामृत’ रखा है (गीता—बारहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक) अर्थात् ये सभी भगवान्की प्राप्ति करानेवाले होनेसे धर्ममय हैं।

‘अव्ययम्’—इसमें कभी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती, इसलिये यह अविनाशी है। भगवान्ने अपने भक्तके लिये भी कहा है कि ‘मेरे भक्तका विनाश (पतन) नहीं होता’—‘न मे भक्तः प्रणश्यति’ (९।३१)।

‘कर्तुं सुसुखम्’—यह करनेमें बहुत सुगम है। पत्र, पुष्प, फल, जल आदि चीजोंको भगवान्की मानकर भगवान्को ही देना कितना सुगम है (नवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)! चीजोंको अपनी मानकर भगवान्को देनेसे भगवान् उनको अनन्त गुणा करके देते हैं और उनको भगवान्की ही मानकर भगवान्के अर्पण करनेसे भगवान् अपने-आपको ही दे देते हैं। इसमें क्या परिश्रम करना पड़ा? इसमें तो केवल अपनी भूल मिटानी है।

मेरी प्राप्ति सुगम है, सरल है; क्योंकि मैं सब देशमें हूँ तो यहाँ भी हूँ, सब कालमें हूँ तो अभी भी हूँ। जो कुछ भी देखने, सुनने, समझनेमें आता है, उसमें मैं ही हूँ। जितने भी मनुष्य हैं, उनका मैं हूँ और वे मेरे हैं। परन्तु मेरी तरफ दृष्टि न रखकर प्रकृतिकी तरफ दृष्टि रखनेसे वे मुझे प्राप्त न होकर बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं। अगर वे थोड़ा-सा भी मेरी तरफ ध्यान दें तो उनको मेरी अलौकिकता, विलक्षणता दीखने लग जाती है तथा प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध नहीं है और भगवान्के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध है—इसका अनुभव हो जाता है।

**परिशिष्ट भाव**—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग ‘राजविद्या’ है और भक्तियोग ‘राजगुह्य’ है। इसी अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें राजविद्याकी और चौंतीसवें श्लोकमें राजगुह्यकी बात मुख्यतासे कही गयी है।

‘प्रत्यक्षावगमम्’—इसका प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) फल होता है। कर्मयोगसे शान्ति, ज्ञानयोगसे मुक्ति और भक्तियोगसे प्रेम प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। भगवान्के शरणागत होनेपर निर्भयता, निःशोकता, निश्चिन्तता और निःशंकता प्रत्यक्षमें प्राप्त होती है। अपने स्वरूपकी सत्ता-स्फूर्ति (सत्-चित्), अपने होनेपनका ज्ञान (अनुभव) भी प्रत्यक्ष है।

‘धर्म्यम्’—यह धर्मसे रहित नहीं है, प्रत्युत धर्ममय है, धर्मसे ओतप्रोत है। इसको जाननेसे मनुष्यजीवन सफल हो जाता है अर्थात् मनुष्य कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है।

\* अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

( ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्म० १७। १७ )

‘सुसुखं कर्तुम्’—यह करनेमें बहुत सुगम है; क्योंकि यह स्वतः प्राप्त है। सब कुछ परमात्मा ही हैं—इसमें कोई परिश्रम नहीं है, यह तो केवल स्वीकृति है। कर्मयोगकी दृष्टिसे जो वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत दूसरोंकी है, उसको दूसरोंकी सेवामें लगानेमें क्या जोर आता है! ज्ञानयोगकी दृष्टिसे अपने-आपमें स्थित होनेमें क्या जोर आता है! भक्तियोगकी दृष्टिसे जो अपना है, उसकी तरफ जानेमें क्या जोर आता है! ये सब काम सुखपूर्वक होते हैं।

‘अव्ययम्’—वास्तवमें अविनाशी और अन्तिम तत्त्व यही है इससे आगे कुछ नहीं है।

सम्बन्ध—ऐसी सुगम और सर्वोपरि विद्याके होनेपर भी लोग उससे लाभ क्यों नहीं उठा रहे हैं? इसपर कहते हैं—

**अश्रद्धानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।  
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥**

परन्तप	= हे परन्तप!	पुरुषाः	= मनुष्य	वर्त्मनि	संसारके मार्गमें
अस्य	= इस	माम्	= मुझे	निवर्तन्ते	= लौटते रहते हैं
धर्मस्य	= धर्मकी महिमापर	अप्राप्य	= प्राप्त न होकर		अर्थात् बार-बार
अश्रद्धानाः	= श्रद्धा न रखनेवाले	मृत्युसंसार-	= मृत्युरूप		जन्मते-मरते रहते हैं।

व्याख्या—‘अश्रद्धानाः पुरुषा धर्मस्यास्य \* परन्तप’—धर्म दो तरहका होता है—स्वधर्म और परधर्म। मनुष्यका जो अपना स्वतःसिद्ध स्वरूप है, वह उसके लिये स्वधर्म है और प्रकृति तथा प्रकृतिका कार्यमात्र उसके लिये परधर्म है—‘संसारधर्मैरविमुह्यमानः’ (श्रीमद्भा० ११।२।४९)। पीछेके दो श्लोकोंमें भगवान्ने जिस विज्ञानसहित ज्ञानको कहनेकी प्रतिज्ञा की और राजविद्या आदि आठ विशेषण देकर जिसका बड़ा माहात्म्य बताया, उसीको यहाँ ‘धर्म’ कहा गया है। इस धर्मके माहात्म्यपर श्रद्धा न रखनेवाले अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंको सच्चा मानकर उन्हींमें रचे-पचे रहनेवाले मनुष्योंको यहाँ ‘अश्रद्धानाः’ कहा गया है।

यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य अपने शरीरको, कुटुम्बको, धन-सम्पत्ति-वैभवको निःसन्देह-रूपसे उत्पत्ति-विनाशशील और प्रतिक्षण परिवर्तनशील जानते हुए भी उनपर विश्वास करते हैं, श्रद्धा करते हैं, उनका आश्रय लेते हैं। वे ऐसा विचार नहीं करते कि इन शरीरादिके साथ हम कितने दिन रहेंगे और ये हमारे साथ कितने दिन रहेंगे? श्रद्धा तो स्वधर्मपर होनी चाहिये थी, पर वह हो गयी परधर्मपर!

‘अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि’—परधर्मपर श्रद्धा रखनेवालोंके लिये भगवान् कहते हैं कि सब देशमें,

सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तुओंमें, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें सदा-सर्वदा विद्यमान, सबको नित्यप्राप्त मुझे प्राप्त न करके मनुष्य मृत्युरूप संसारके रास्तेमें लौटते रहते हैं। कहीं जन्म गये तो मरना बाकी रहता है और मर गये तो जन्मना बाकी रहता है। ये जिन योनियोंमें जाते हैं, उन्हीं योनियोंमें ये अपनी स्थिति मान लेते हैं अर्थात् ‘मैं शरीर हूँ’ ऐसी अहंता और ‘शरीर मेरा है’ ऐसी ममता कर लेते हैं। परन्तु वास्तवमें उन योनियोंसे भी उनका निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद होता रहता है। किसी भी योनिके साथ इनका सम्बन्ध टिक नहीं सकता। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिसे भी इनका निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है अर्थात् वहाँसे भी ये हरदम निवृत्त हो रहे हैं, लौट रहे हैं। ये किसीके साथ हरदम रह ही नहीं सकते। ऐसे ही ये ऊर्ध्वगतमें अर्थात् ऊँची-से-ऊँची भोग-भूमियोंमें भी चले जायँ तो वहाँसे भी इनको लौटना ही पड़ेगा (गीता—आठवें अध्यायका सोलहवाँ तथा पचीसवाँ और नवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह हुआ कि मेरेको प्राप्त हुए बिना ये मनुष्य जहाँ-कहीं भी जायँगे, वहाँसे इनको लौटना ही पड़ेगा, बार-बार जन्मना और मरना ही पड़ेगा।

‘मृत्युसंसारवर्त्मनि’ कहनेका मतलब है कि इस संसारके रास्तेमें मरना-ही-मरना है, विनाश-ही-विनाश है,

\* यहाँ ‘अश्रद्धानाः’ पदमें आये हुए ‘शानच् कृत्’ प्रत्ययके योगमें ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम्’ (पाणि० अष्टा० २।३।६९)—इस सूत्रके नियमसे द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये; परन्तु यह सूत्र कारक-षष्ठीका ही निषेध करता है। अतः यहाँ ‘षष्ठी शेषे’ से ‘धर्म’ पदमें षष्ठी विभक्ति की गयी है।

अभाव-ही-अभाव है अर्थात् जहाँ जायँगे, वहाँसे लौटना ही पड़ेगा। इसी बातको भगवान्ने बारहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'मृत्युसंसारसागरात्' कहा है अर्थात् यह संसार मौतका ही समुद्र है। इसमें कहीं भी स्थिरतासे टिक नहीं सकते।

यह मनुष्यशरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। भगवान्ने कृपा करके सम्पूर्ण कर्मफलोंको (जो कि सत्-असत् योनियोंके कारण हैं) स्थगित करके मुक्तिका अवसर दिया है। ऐसे मुक्तिके अवसरको प्राप्त करके भी जो जीव जन्म-मरणकी परम्परामें चले जाते हैं, उनको देखकर भगवान् मानो पश्चात्ताप करते हैं कि मैंने अपनी तरफसे इनको जन्म-मरणसे छूटनेका पूरा अवसर दिया था, पर ये उस अवसरको प्राप्त करके भी जन्म-मरणमें जा रहे हैं! केवल साधारण मनुष्योंके लिये ही नहीं, प्रत्युत महान् आसुरी योनियोंमें पड़े हुए जीवोंके लिये भी भगवान् पश्चात्ताप करते हैं कि मेरेको प्राप्त किये बिना ही ये अधम गतिको जा रहे हैं—'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्' (गीता १६। २०)।

'अप्राप्य माम्' (मेरेको प्राप्त न होकर) पदोंसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यमात्रको भगवत्प्राप्तिका अधिकार मिला हुआ है। इसलिये मनुष्यमात्र भगवान्की ओर चल सकता है, भगवान्को प्राप्त कर सकता है। सोलहवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'मामप्राप्यैव' पदसे भी यह सिद्ध होता है कि आसुरी प्रकृतिवाले भी भगवान्की ओर चल सकते हैं, भगवान्को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये गीतामें कहा गया है कि दुराचारी-से-दुराचारी भी भक्त बन सकता है, धर्मात्मा बन सकता है और भगवान्को प्राप्त कर सकता है (नवें अध्यायका तीसवाँ-इकतीसवाँ श्लोक) तथा पापी-से-पापी भी ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पापोंसे तर सकता है (चौथे अध्यायका छत्तीसवाँ श्लोक)।

एक शहर था। उसके चारों तरफ ऊँची दीवार बनी हुई थी। शहरसे बाहर निकलनेके लिये एक ही दरवाजा था। एक सूरदास (अन्धा) शहरसे बाहर निकलना चाहता था। वह एक हाथसे लाठीका सहारा और एक हाथसे दीवारका सहारा लेते हुए चल रहा था। चलते-चलते जब बाहर जानेका दरवाजा आया, तब उसके माथेपर खुजली आयी। वह एक हाथसे खुजलाते और एक हाथसे लाठीके सहारे चलता रहा, तो दरवाजा निकल गया और उसका हाथ फिर दीवारपर लग गया। इस तरह चलते-चलते जब

दरवाजा आता, तब खुजली आ जाती। खुजलानेके लिये वह हाथ माथेपर लगाता, तबतक दरवाजा निकल जाता। इस प्रकार वह चक्कर ही काटता रहा। ऐसे ही यह जीव स्वर्ग, नरक, चौरासी लाख योनियोंमें घूमता रहता है। उन भोगयोनियोंसे यह स्वयं छुटकारा नहीं पा सकता, तो भगवान् कृपा करके जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेके लिये मनुष्यशरीर देते हैं। परन्तु मनुष्यशरीरको पाकर उसके मनमें भोगोंकी खुजली चलने लगती है, जिससे वह परमात्माकी तरफ न जाकर सांसारिक पदार्थोंका संग्रह करने और उन पदार्थोंसे सुख लेनेमें ही लगा रहता है। ऐसा करते-करते ही वह मर जाता है और पुनः स्वर्ग, नरक आदिकी योनियोंके चक्करमें पड़ जाता है। इस प्रकार वह बार-बार उन योनियोंमें लौटता रहता है—यही मृत्युरूप संसार-मार्गमें लौटना है।

यह जीव साक्षात् परमात्माका अंश है; अतः परमात्मा ही इस जीवका असली घर है। जब यह जीव उस परमात्माको प्राप्त कर लेता है, तब उसको अपना असली स्थान (घर) प्राप्त हो जाता है। फिर वहाँसे इसको लौटना नहीं पड़ता अर्थात् गुणोंके परवश होकर जन्म नहीं लेना पड़ता—इसको गीतामें जगह-जगह कहा गया है; जैसे—'त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन' (४। ९); 'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिम्' (५। १७); 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते' (८। २१); 'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः' (१५। ४); 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' (१५। ६) आदि-आदि। श्रुति भी कहती है—'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' (छान्दोग्य० ४। १५। १)।

### विशेष बात

प्रायः लोगोंके भीतर यह बात जँची हुई है कि हम संसारी हैं, जन्मने-मरनेवाले हैं, यहाँ ही रहनेवाले हैं, इत्यादि। पर ये बातें बिलकुल गलत हैं। कारण कि हम सभी परमात्माके अंश हैं, परमात्माकी जातिके हैं, परमात्माके साथी हैं और परमात्माके धामके वासी हैं। हम सभी इस संसारमें आये हैं; हम संसारके नहीं हैं। कारण कि संसारके सब पदार्थ जड हैं, परिवर्तनशील हैं, जब कि हम स्वयं चेतन हैं और हमारेमें (स्वयंमें) कभी परिवर्तन नहीं होता। अनेक जन्म होनेपर भी हम स्वयं नित्य-निरन्तर वे ही रहते हैं—'भूतग्रामः स एवायम्' (८। १९) और ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं।

संसारके साथ हमारा संयोग और परमात्माके साथ

हमारा वियोग कभी हो ही नहीं सकता। हम चाहे स्वर्गमें जायँ, चाहे नरकोंमें जायँ, चाहे चौरासी लाख योनियोंमें जायँ, चाहे मनुष्ययोनिमें जायँ, तो भी हमारा परमात्मासे वियोग नहीं होता, परमात्माका साथ नहीं छूटता। परमात्मा सभी योनियोंमें हमारे साथ रहते हैं। परन्तु मनुष्येतर योनियोंमें विवेककी जागृति न रहनेसे हम परमात्माको पहचान नहीं सकते। परमात्माको पहचाननेका मौका तो इस मनुष्यशरीरमें ही है। कारण कि भगवान्ने कृपा करके इस मनुष्यको ऐसी शक्ति, योग्यता दी है, जिससे वह सत्संग, विचार, स्वाध्याय आदिके द्वारा विवेक जाग्रत् करके परमात्माको जान सकता है, परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है। इसलिये भगवान् यहाँ कहते हैं कि इन प्राणियोंको मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ है, तो मेरेको प्राप्त हो ही जाना चाहिये और 'हम भगवान्के ही हैं तथा भगवान् ही हमारे हैं' यह बात उनकी समझमें आ ही जानी चाहिये। परन्तु ये इस बातको न समझकर, मेरेपर श्रद्धा-विश्वास न करके; मेरेको प्राप्त न होकर संसाररूपी मौतके मार्गमें पड़ गये हैं—यह बड़े दुःखकी और आश्चर्यकी बात है!

संसारमें आना, चौरासी लाख योनियोंमें भटकना हमारा काम नहीं है। ये देश, गाँव, कुटुम्ब, धन, पदार्थ, शरीर आदि हमारे नहीं हैं और हम इनके नहीं हैं। ये देश आदि सभी अपरा प्रकृति हैं और हम परा प्रकृति हैं। परन्तु

भूलसे हमने अपनेको यहाँका रहनेवाला मान लिया है। इस भूलको मिटाना चाहिये; क्योंकि हम भगवान्के अंश हैं, भगवान्के धामके हैं। जहाँसे लौटकर नहीं आना पड़ता, वहाँ जाना हमारा खास काम है, जन्म-मरणसे रहित होना हमारा खास काम है। परन्तु अपने घर जानेको, खुदकी चीजको कठिन मान लिया, उद्योगसाध्य मान लिया! वास्तवमें यह कठिन नहीं है। कठिन तो संसारका रास्ता है, जो कि नया पकड़ना पड़ता है, नया शरीर धारण करना पड़ता है, नये कर्म करने पड़ते हैं; और कर्मोंके फल भोगनेके लिये नये-नये लोकोंमें नयी-नयी योनियोंमें जाना पड़ता है। भगवान्की प्राप्ति तो सुगम है; क्योंकि भगवान् सब देशमें हैं, सब कालमें हैं, सब वस्तुओंमें हैं, सब व्यक्तियोंमें हैं, सब घटनाओंमें हैं, सब परिस्थितियोंमें हैं और सभी भगवान्में हैं। हम हरदम भगवान्के साथ हैं और भगवान् हरदम हमारे साथ हैं। हम भगवान्से और भगवान् हमारेसे कभी अलग हो ही नहीं सकते।

तात्पर्य यह हुआ कि हम यहाँके, जन्म-मृत्युवाले संसारके नहीं हैं। यह हमारा देश नहीं है। हम इस देशके नहीं हैं। यहाँकी वस्तुएँ हमारी नहीं हैं। हम इन वस्तुओंके नहीं हैं। हमारे ये कुटुम्बी नहीं हैं। हम इन कुटुम्बियोंके नहीं हैं। हम तो केवल भगवान्के हैं और भगवान् ही हमारे हैं।

**परिशिष्ट भाव**—पूर्वश्लोकमें कही विज्ञानसहित ज्ञानकी महिमापर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य इससे लाभ नहीं उठाते, प्रत्युत नाशवान् भोगोंको महत्त्व देकर उन्हींमें लगे रहते हैं। इसलिये वे भगवान्को प्राप्त न होकर बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं, स्वतःप्राप्त अमरताका रास्ता छोड़कर मृत्युके रास्तेपर चलते रहते हैं।

**'अप्राप्य माम्'** कहनेका तात्पर्य है कि मनुष्यशरीरमें भगवान्की प्राप्तिका मौका था, मनुष्य भगवत्प्राप्तिके नजदीक आ गया था, पर श्रद्धा न होनेके कारण वह भगवान्की प्राप्ति न करके संसारमें ही घूमता रहता है। जो नित्य विद्यमान है, उसको न मानकर वह जो एक क्षण भी नहीं टिकता, उसको मानता है। उसका अन्तःकरण इतना अशुद्ध होता है कि भगवान्का प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर भी उसपर श्रद्धा नहीं करता। जैसे—सत्संग, कीर्तन आदिमें प्रत्यक्ष लाभ दीखनेपर भी वह उसमें विशेषतासे नहीं लगता। किसी प्रिय व्यक्तिकी मृत्यु होनेपर या अन्य कोई घटना घटनेपर उसको संसारसे वैराग्य होता है, फिर भी वह उसमें स्थिर नहीं रहता। आश्विन कृष्ण द्वादशी, सं० दो हजार बावन (दिनांक-इक्कीस सितम्बर, उन्नीस सौ पंचानबे)-को भूमण्डलमात्रमें भगवान् गणेशजीकी प्रतिमाओंके द्वारा दूध पीनेकी प्रत्यक्ष घटना लोगोंके देखनेमें आयी। परन्तु अपनेको बुद्धिमान् समझनेवाले कई लोगोंने ऐसी प्रत्यक्ष घटनापर भी श्रद्धा नहीं की और अखबार, टेलिविजन आदिके माध्यमसे इसका खण्डन किया। कौरवोंकी सभामें भी जब द्रौपदीका चीर-हरण करनेकी चेष्टा की गयी, तब साड़ियोंका ढेर लग गया, पर दुःशासन द्रौपदीको किंचिन्मात्र भी नग्न नहीं कर सका। इतना बड़ा चमत्कार प्रत्यक्ष देखनेपर भी कौरवोंको चेत नहीं हुआ! अतः जिनकी बुद्धि तामसी है, अशुद्ध है, उनपर ऐसी विलक्षण घटनाओंका असर नहीं पड़ता, उनकी श्रद्धा नहीं होती। उनको सब उलटा-ही-उलटा दीखता है (गीता—अठारहवें अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। ऐसे अश्रद्धालु मनुष्य अमरताके मार्गको छोड़कर मृत्युके मार्गमें चलते रहते हैं, जिसमें केवल मृत्यु-ही-मृत्यु है। वे उस मार्गको पकड़ लेते हैं, जिस मार्गसे कभी भगवान्की प्राप्ति न हो सके।

अपराको पकड़नेसे ही मनुष्य मौतके रास्तेमें चला जाता है। अगर वह अपराको न पकड़े, प्रत्युत जिसकी अपरा है, उस भगवान्को पकड़े तो सदाके लिये जन्म-मरणसे मुक्त हो जाय! मनुष्य इसी जन्ममें मुक्त हो सकता है और मुक्तिसे भी बढ़कर भगवान्का प्रेम (भक्ति) प्राप्त कर सकता है। परन्तु भगवान्से इतनी बड़ी योग्यता, पात्रता, अधिकारिता पाकर भी वह मौतके रास्तेमें चल पड़ा! इसलिये भगवान् दुःखके साथ कहते हैं—‘अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि’! और ‘मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्’ (गीता १६।२०)। इससे सिद्ध होता है कि अभी कल्याणप्राप्तिका बड़ा सुन्दर मौका है। मनुष्य खुद अपने कल्याणमें लग जाय तो इसमें धर्म, ग्रन्थ, महात्मा, संसार, भगवान् सब सहायता करते हैं!

सम्बन्ध—इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें जिस राजविद्याकी महिमा कही गयी है, अब आगेके दो श्लोकोंमें उसीका वर्णन करते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।  
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥  
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।  
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

इदम्	= यह	तेषु	= उनमें	भूतभावनः	= सम्पूर्ण प्राणियोंको
सर्वम्	= सब	न, अवस्थितः	= स्थित नहीं हूँ		उत्पन्न
जगत्	= संसार	च	= तथा		करनेवाला
मया	= मेरे	भूतानि	= (वे) प्राणी (भी)	च	= और
अव्यक्तमूर्तिना	= निराकार	मत्स्थानि	= मुझमें स्थित	भूतभृत्	= प्राणियोंका धारण,
	स्वरूपसे	न	= नहीं हैं—		भरण-पोषण
ततम्	= व्याप्त है।	मे	= मेरे (इस)		करनेवाला
सर्वभूतानि	= सम्पूर्ण	ऐश्वरम्	= ईश्वर-	मम	= मेरा
	प्राणी		सम्बन्धी	आत्मा	= स्वरूप
मत्स्थानि	= मुझमें स्थित हैं;	योगम्	= योग-	भूतस्थः	= उन प्राणियोंमें
च	= परन्तु		(सामर्थ्य-) को		स्थित
अहम्	= मैं	पश्य	= देख।	न	= नहीं है।

व्याख्या—‘मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना’— मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे जिसका ज्ञान होता है, वह भगवान्का व्यक्तरूप है और जो मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका विषय नहीं है अर्थात् मन आदि जिसको नहीं जान सकते, वह भगवान्का अव्यक्तरूप है। यहाँ भगवान्ने ‘मया’ पदसे व्यक्त- (साकार-) स्वरूप और ‘अव्यक्तमूर्तिना’ पदसे अव्यक्त- (निराकार-) स्वरूप बताया है। इसका तात्पर्य है कि भगवान् व्यक्तरूपसे भी हैं और अव्यक्तरूपसे भी हैं। इस प्रकार भगवान्की यहाँ व्यक्त-अव्यक्त (साकार-निराकार) कहनेकी गूढ़ाभिसन्धि समग्ररूपसे है अर्थात् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदिका भेद तो सम्प्रदायोंको

लेकर है, वास्तवमें परमात्मा एक हैं। ये सगुण-निर्गुण आदि एक ही परमात्माके अलग-अलग विशेषण हैं, अलग-अलग नाम हैं।

गीतामें जहाँ सत्-असत्, शरीर-शरीरीका वर्णन किया गया है, वहाँ जीवके वास्तविक स्वरूपके लिये आया है—‘येन सर्वमिदं ततम्’ (२।१७); क्योंकि यह परमात्माका साक्षात् अंश होनेसे परमात्माके समान ही सर्वत्र व्यापक है अर्थात् परमात्माके साथ इसका अभेद है। जहाँ सगुण-निराकारकी उपासनाका वर्णन आया है, वहाँ बताया है—‘येन सर्वमिदं ततम्’ (८।२२), जहाँ कर्मोंके द्वारा भगवान्का पूजन बताया है, वहाँ भी कहा है—



‘येन सर्वमिदं ततम्’ (१८। ४६)। इन सबके साथ एकता करनेके लिये ही भगवान् यहाँ कहते हैं—‘मया ततमिदं सर्वम्’।

‘मत्स्थानि सर्वभूतानि’—सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें स्थित हैं अर्थात् परा-अपरा प्रकृतिरूप सारा जगत् मेरेमें ही स्थित है। वह मेरेको छोड़कर रह ही नहीं सकता। कारण कि सम्पूर्ण प्राणी मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं, मेरेमें ही स्थित रहते हैं और मेरेमें ही लीन होते हैं अर्थात् उनका उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप जो कुछ परिवर्तन होता है, वह सब मेरेमें ही होता है। अतः वे सब प्राणी मेरेमें स्थित हैं।

‘न चाहं तेष्ववस्थितः’—पहले भगवान्ने दो बातें कहीं—पहली ‘मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना’ और दूसरी ‘मत्स्थानि सर्वभूतानि।’ अब भगवान् इन दोनों बातोंके विरुद्ध दो बातें कहते हैं।

पहली बात—(मैं सम्पूर्ण जगत्में स्थित हूँ-) के विरुद्ध यहाँ कहते हैं कि मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। कारण कि यदि मैं उनमें स्थित होता तो उनमें जो परिवर्तन होता है, वह परिवर्तन मेरेमें भी होता; उनका नाश होनेसे मेरा भी नाश होता और उनका अभाव होनेसे मेरा भी अभाव होता। तात्पर्य है कि उनका तो परिवर्तन, नाश और अभाव होता है; परन्तु मेरेमें कभी किंचिन्मात्र भी विकृति नहीं आती। मैं उनमें सब तरहसे व्याप्त रहता हुआ भी उनसे निर्लिप्त हूँ, उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित हूँ। मैं तो निर्विकाररूपसे अपने-आपमें ही स्थित हूँ।

वास्तवमें ‘मैं उनमें स्थित हूँ’—ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि मेरी सत्तासे ही उनकी सत्ता है, मेरे होनेपनसे ही उनका होनापन है। यदि मैं उनमें न होता, तो जगत्की सत्ता ही नहीं होती। जगत्का होनापन तो मेरी सत्तासे ही दीखता है। इसलिये कहा कि मैं उनमें स्थित हूँ।

‘न च मत्स्थानि भूतानि’\*—अब भगवान् दूसरी बात—(सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें स्थित हैं-) के विरुद्ध यहाँ कहते हैं कि वे प्राणी मेरेमें स्थित नहीं हैं। कारण कि अगर वे प्राणी मेरेमें स्थित होते तो मैं जैसा निरन्तर निर्विकाररूपसे ज्यों-का-त्यों रहता हूँ, वैसा संसार भी निर्विकाररूपसे ज्यों-का-त्यों रहता। मेरा कभी उत्पत्ति-विनाश नहीं होता, तो संसारका भी उत्पत्ति-विनाश नहीं होता। एक देशमें हूँ और एक देशमें नहीं हूँ, एक कालमें हूँ और एक कालमें

नहीं हूँ, एक व्यक्तिमें हूँ और एक व्यक्तिमें नहीं हूँ—ऐसी परिच्छिन्नता मेरेमें नहीं है, तो संसारमें भी ऐसी परिच्छिन्नता नहीं होती। तात्पर्य है कि निर्विकारता, नित्यता, व्यापकता, अविनाशीपन आदि जैसे मेरेमें हैं, वैसे ही उन प्राणियोंमें भी होते। परन्तु ऐसी बात नहीं है। मेरी स्थिति निरन्तर रहती है और उनकी स्थिति निरन्तर नहीं रहती, तो इससे सिद्ध हुआ कि वे मेरेमें स्थित नहीं हैं।

अब उपर्युक्त विधिपरक और निषेधपरक चारों बातोंको दूसरी रीतिसे इस प्रकार समझें। संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है; तथा परमात्मा संसारमें नहीं हैं और संसार परमात्मामें नहीं है। जैसे, अगर तरंगकी सत्ता मानी जाय तो तरंगमें जल है और जलमें तरंग है। कारण कि जलको छोड़कर तरंग रह ही नहीं सकती। तरंग जलसे ही पैदा होती है, जलमें ही रहती है और जलमें ही लीन हो जाती है; अतः तरंगका आधार, आश्रय केवल जल ही है। जलके बिना उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसलिये तरंगमें जल है और जलमें तरंग है। ऐसे ही संसारकी सत्ता मानी जाय तो संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है। कारण कि परमात्माको छोड़कर संसार रह ही नहीं सकता। संसार परमात्मासे ही पैदा होता है, परमात्मामें ही रहता है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है। परमात्माके सिवाय संसारकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसलिये संसारमें परमात्मा हैं और परमात्मामें संसार है।

अगर तरंग उत्पन्न और नष्ट होनेवाली होनेसे तथा जलके सिवाय उसकी स्वतन्त्र सत्ता न होनेसे तरंगकी सत्ता न मानी जाय, तो न तरंगमें जल है और न जलमें तरंग है अर्थात् केवल जल-ही-जल है और जल ही तरंगरूपसे दीख रहा है। ऐसे ही संसार उत्पन्न और नष्ट होनेवाला होनेसे तथा परमात्माके सिवाय उसकी स्वतन्त्र सत्ता न होनेसे संसारकी सत्ता न मानी जाय, तो न संसारमें परमात्मा हैं और न परमात्मामें संसार है अर्थात् केवल परमात्मा-ही-परमात्मा हैं और परमात्मा ही संसाररूपसे दीख रहे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे तत्त्वसे एक जल ही है, तरंग नहीं है, ऐसे ही तत्त्वसे एक परमात्मा ही हैं, संसार नहीं है—‘वासुदेवः सर्वम्’ (७। १९)।

अब कार्य-कारणकी दृष्टिसे देखें तो जैसे मिट्टीसे बने हुए जितने बर्तन हैं, उन सबमें मिट्टी ही है; क्योंकि वे मिट्टीसे ही बने हैं, मिट्टीमें ही रहते हैं और मिट्टीमें ही लीन

\* ‘न च मत्स्थानि भूतानि’ का दूसरा भाव यह भी है कि वे प्राणी अपनेको मेरेमें स्थित नहीं मानते, प्रत्युत अपनेको प्रकृतिमें स्थित मानते हैं। इसलिये वे मेरेमें स्थित नहीं हैं।

होते हैं अर्थात् उनका आधार मिट्टी ही है। इसलिये बर्तनोंमें मिट्टी है और मिट्टीमें बर्तन हैं। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो बर्तनोंमें मिट्टी और मिट्टीमें बर्तन नहीं हैं। अगर बर्तनोंमें मिट्टी होती, तो बर्तनोंके मिटनेपर मिट्टी भी मिट जाती। परन्तु मिट्टी मिटती ही नहीं। अतः मिट्टी मिट्टीमें ही रही अर्थात् अपने-आपमें ही स्थित रही। ऐसे ही अगर मिट्टीमें बर्तन होते, तो मिट्टीके रहनेपर बर्तन हरदम रहते। परन्तु बर्तन हरदम नहीं रहते। इसलिये मिट्टीमें बर्तन नहीं हैं। ऐसे ही संसारमें परमात्मा और परमात्मामें संसार रहते हुए भी संसारमें परमात्मा और परमात्मामें संसार नहीं है। कारण कि अगर संसारमें परमात्मा होते तो संसारके मिटनेपर परमात्मा भी मिट जाते। परन्तु परमात्मा मिटते ही नहीं। इसलिये संसारमें परमात्मा नहीं हैं। परमात्मा तो अपने-आपमें स्थित हैं। ऐसे ही परमात्मामें संसार नहीं है। अगर परमात्मामें संसार होता तो परमात्माके रहनेपर संसार भी रहता; परन्तु संसार नहीं रहता। इसलिये परमात्मामें संसार नहीं है।

जैसे, किसीने हरिद्वारको याद किया तो उसके मनमें हरिकी पैड़ी दीखने लग गयी। बीचमें घण्टाघर बना हुआ है। उसके दोनों ओर गंगाजी बह रही हैं। सीढ़ियोंपर लोग स्नान कर रहे हैं। जलमें मछलियाँ उछल-कूद मचा रही हैं। यह सब-का-सब हरिद्वार मनमें है। इसलिये हरिद्वारमें बना हुआ सब कुछ (पत्थर, जल, मनुष्य, मछलियाँ आदि) मन ही है। परन्तु जहाँ चिन्तन छोड़ा, वहाँ फिर हरिद्वार नहीं रहा, केवल मन-ही-मन रहा। ऐसे ही परमात्मामें 'बहु स्यां प्रजायेय' संकल्प किया, तो संसार प्रकट हो गया। उस संसारके कण-कणमें परमात्मा ही रहे और संसार परमात्मामें ही रहा; क्योंकि परमात्मा ही संसाररूपमें प्रकट हुए हैं। परन्तु जहाँ परमात्मामें संकल्प छोड़ा, वहाँ फिर संसार नहीं रहा, केवल परमात्मा-ही-परमात्मा रहे।

तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मा हैं और संसार है— इस दृष्टिसे देखा जाय तो संसारमें परमात्मा और परमात्मामें संसार है। परन्तु तत्त्वकी दृष्टिसे देखा जाय तो न संसारमें परमात्मा हैं और न परमात्मामें संसार है; क्योंकि वहाँ संसारकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। वहाँ तो केवल

परमात्मा-ही-परमात्मा हैं—'वासुदेवः सर्वम्'। यही जीवन्मुक्तोंकी, भक्तोंकी दृष्टि है।

'पश्य मे योगमैश्वरम्'\*—मैं सम्पूर्ण जगत्में और सम्पूर्ण जगत् मेरेमें होता हुआ भी सम्पूर्ण जगत् मेरेमें नहीं है और मैं सम्पूर्ण जगत्में नहीं हूँ अर्थात् मैं संसारसे सर्वथा निर्लिप्त हूँ, अपने-आपमें ही स्थित हूँ—मेरे इस ईश्वर-सम्बन्धी योगको अर्थात् प्रभाव-(सामर्थ्य-) को देख। तात्पर्य है कि मैं एक ही अनेकरूपसे दीखता हूँ और अनेकरूपसे दीखता हुआ भी मैं एक ही हूँ; अतः केवल मैं-ही-मैं हूँ।

'पश्य' क्रियाके दो अर्थ होते हैं—जानना और देखना। जानना बुद्धिसे और देखना नेत्रोंसे होता है। भगवान्के योग-(प्रभाव-) को जाननेकी बात यहाँ आयी है और उसे देखनेकी बात ग्यारहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें आयी है।

'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः'—मेरा जो स्वरूप है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंको पैदा करनेवाला, सबको धारण करनेवाला तथा उनका भरण-पोषण करने-वाला है। परन्तु मैं उन प्राणियोंमें स्थित नहीं हूँ अर्थात् मैं उनके आश्रित नहीं हूँ, उनमें लिप्त नहीं हूँ। इसी बातको भगवान्ने पंद्रहवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें कहा है कि क्षर (जगत्) और अक्षर (जीवात्मा)—दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जिसको 'परमात्मा' नामसे कहा गया है और जो सम्पूर्ण लोकोंमें व्याप्त होकर सबका भरण-पोषण करता हुआ सबका शासन करता है।

तात्पर्य यह हुआ कि जैसे मैं सबको उत्पन्न करता हुआ और सबका भरण-पोषण करता हुआ भी अहंता-ममतासे रहित हूँ और सबमें रहता हुआ भी उनके आश्रित नहीं हूँ, उनसे सर्वथा निर्लिप्त हूँ। ऐसे ही मनुष्यको चाहिये कि वह कुटुम्ब-परिवारका भरण-पोषण करता हुआ और सबका प्रबन्ध, संरक्षण करता हुआ उनमें अहंता-ममता न करे और जिस-किसी देश, काल, परिस्थितिमें रहता हुआ भी अपनेको उनके आश्रित न माने अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहे।

भक्तके सामने जो कुछ परिस्थिति आये, जो कुछ घटना घटे, मनमें जो कुछ संकल्प-विकल्प आये, उन सबमें

\* यहाँ 'योग' शब्द 'युज् संयमने' धातुसे बना हुआ लिया गया है; क्योंकि सम्पूर्ण संसारका संयमन भगवान् ही करते हैं। ऐसे तो यमराज भी प्राणियोंके पाप-पुण्योंके अनुसार उनका संयमन करते हैं; परन्तु वे तो एक मृत्युलोकके प्राणियोंका ही संयमन करते हैं, जब कि भगवान् अनन्त ब्रह्माण्डोंका तथा उनमें अलग-अलग नियुक्त किये हुए यमराजोंका भी संयमन करते हैं। इस संयमन करनेकी शक्तिका नाम ही यहाँ योग, सामर्थ्य, प्रभाव है। यह योग, सामर्थ्य, प्रभाव पूर्णरूपसे केवल भगवान्में ही होता है।

उसको भगवान्की ही लीला देखनी चाहिये। भगवान् ही कभी उत्पत्तिकी लीला, कभी स्थितिकी लीला और कभी संहारकी लीला करते हैं। यह सब संसार स्वरूपसे तो भगवान्का ही रूप है और इसमें जो परिवर्तन होता है, वह सब भगवान्की ही लीला है—इस तरह भगवान् और उनकी लीलाको देखते हुए भक्तको हरदम प्रसन्न रहना चाहिये।

### मार्मिक बात

‘सब कुछ परमात्मा ही हैं’—इस बातको खूब गहरा उतरकर समझनेसे साधकको इसका यथार्थ अनुभव हो जाता है। यथार्थ अनुभव होनेकी कसौटी यह है कि अगर उसकी कोई प्रशंसा करे कि ‘आपका सिद्धान्त बहुत अच्छा है’ आदि, तो उसको अपनेमें बड़प्पनका अनुभव नहीं होना चाहिये। संसारमें कोई आदर करे या निरादर—इसका भी

साधकपर असर नहीं होना चाहिये। अगर कोई कह दे कि ‘संसार नहीं है और परमात्मा हैं—यह तो आपकी कोरी कल्पना है और कुछ नहीं’ आदि, तो ऐसी काट-छाँटसे साधकको किंचिन्मात्र भी बुरा नहीं लगना चाहिये। उस बातको सिद्ध करनेके लिये दृष्टान्त देनेकी, प्रमाण खोजनेकी इच्छा ही नहीं होनी चाहिये और कभी भी ऐसा भाव नहीं होना चाहिये कि ‘यह हमारा सिद्धान्त है, यह हमारी मान्यता है, इसको हमने ठीक समझा है’ आदि। अपने सिद्धान्तके विरुद्ध कोई कितना ही विवेचन करे, तो भी अपने सिद्धान्तमें किसी कमीका अनुभव नहीं होना चाहिये और अपनेमें कोई विकार भी पैदा नहीं होना चाहिये। अपना यथार्थ अनुभव स्वाभाविकरूपसे सदा-सर्वदा अटल और अखण्डरूपसे बना रहना चाहिये। इसके विषयमें साधकको कभी सोचना ही नहीं पड़े।

**परिशिष्ट भाव—‘मया ततमिदं सर्वम्’** कहनेका तात्पर्य है कि बर्फमें जलकी तरह संसारमें सत्ता (‘है’)-रूपसे एक सम, शान्त, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। जिसका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है, उस संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। अज्ञानके कारण संसारमें जो सत्ता प्रतीत हो रही है, वह भी परमात्मतत्त्वकी सत्ताके कारण ही है। जब सबमें एक अविभक्त सत्ता (‘है’) ही परिपूर्ण है तो फिर उसमें मैं, तू, यह और वह—ये चार विभाग कैसे हो सकते हैं? अहंता और ममता कैसे हो सकती है? राग-द्वेष कैसे हो सकते हैं? जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको मिटानेका अभ्यास भी कैसे हो सकता है?

भगवान्ने ‘मत्स्थानि सर्वभूतानि’ के लिये ‘न च मत्स्थानि भूतानि’ पद कहे हैं और ‘मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना’ के लिये ‘न चाहं तेष्ववस्थितः’ पद कहे हैं। जबतक साधकमें यह भाव है कि परमात्मा और संसार दो हैं, तबतक उसको यह समझना चाहिये कि परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं (गीता—छठे अध्यायका तीसवाँ श्लोक)। परन्तु जब दोका भाव न हो, तब न परमात्मामें संसार है और न संसारमें परमात्मा हैं।

संसारको स्वतन्त्र सत्ता जीवने ही दी है—‘यथेदं धार्यते जगत्’ (गीता ७।५) संसारकी स्वतन्त्र सत्ता अहंता, ममता और कामनाके कारण ही है। अतः जबतक अहंता, ममता और कामना है, तबतक (साधककी दृष्टिमें) परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं। परन्तु अहंता, ममता और कामनाके मिटनेपर (सिद्धकी दृष्टिमें) न परमात्मामें संसार है, न संसारमें परमात्मा हैं अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं—‘वासुदेवः सर्वम्’।

परमात्मामें संसार है, संसारमें परमात्मा हैं—यह ‘ज्ञान’ है और न परमात्मामें संसार है, न संसारमें परमात्मा हैं अर्थात् परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—यह ‘विज्ञान’ है।

श्रीमद्भागवतमें आया है कि जबतक साधककी दृष्टिमें जगत्की स्वतन्त्र सत्ता है, तबतक वह अपने बर्तावके द्वारा प्राणियोंमें भगवद्बुद्धिसे उपासना करे<sup>१</sup>। परन्तु जब उसकी दृष्टिमें जगत्की सत्ता न रहे अर्थात् केवल भगवान् ही रह जायँ, तब ‘सब कुछ भगवान् ही हैं’—इस चिन्तनसे भी उपराम हो जाय<sup>२</sup>।

१-यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते। तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १७)

‘जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा भाव अर्थात् ‘सब कुछ परमात्मा ही हैं’ ऐसा वास्तविक भाव न होने लगे, तबतक इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों-(बर्ताव-) से मेरी उपासना करता रहे।’

२-सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

‘भूतभृन् च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः’—भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करते हैं—‘अहं सर्वस्य प्रभवः’ (गीता १०।८), ‘अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः’ (गीता ७।६)। उन प्राणियोंका भरण-पोषण भी भगवान् ही करते हैं—‘यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः’ (गीता १५।१७)। सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करने तथा उनका भरण-पोषण करते हुए भी भगवान् उनमें लिप्त, आसक्त नहीं होते, उनके आश्रित नहीं होते। भगवान् उन प्राणियोंमें स्थित नहीं हैं; अतः उन प्राणियों और पदार्थोंमें आसक्त होनेसे भगवान्की प्राप्ति नहीं होती।

वास्तवमें एक चिन्मय सत्ताके सिवाय जड़ताकी सत्ता है ही नहीं—‘नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः’ (गीता २।१६)। जड़ता-(संसार-) की सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध केवल कामना-(भोगेच्छा-) के कारण ही है। अतः जबतक सुखकी इच्छा है, तभीतक यह संसार है।

जो परमात्मामें संसारको देखते हैं अर्थात् संसारको परमात्मरूपसे न देखकर संसाररूपसे (जड़) देखते हैं, वे नास्तिक होते हैं। परन्तु जो संसारमें परमात्माको देखते हैं अर्थात् संसारको संसाररूपसे न देखकर परमात्मरूपसे (चिन्मय) देखते हैं, वे आस्तिक होते हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् पीछेके दो श्लोकोंमें कही हुई बातोंको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं।

**यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।**

**तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥**

यथा	= जैसे	नित्यम्	= नित्य ही	भूतानि	= प्राणी
सर्वत्रगः	= सब जगह विचरनेवाली	आकाश-	= आकाशमें स्थित	मत्स्थानि	= मुझमें ही स्थित रहते हैं—
महान्	= महान्	स्थितः	= रहती है,	इति	= ऐसा
वायुः	= वायु	तथा	= ऐसे ही	उपधारय	= तुम मान लो।
		सर्वाणि	= सम्पूर्ण		

व्याख्या—‘यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्’—जैसे सब जगह विचरनेवाली महान् वायु नित्य ही आकाशमें स्थित रहती है अर्थात् वह कहीं निःस्पन्दरूपसे रहती है, कहीं सामान्यरूपसे क्रियाशील रहती है, कहीं बड़े वेगसे चलती है आदि, पर किसी भी रूपसे चलनेवाली वायु आकाशसे अलग नहीं हो सकती। वह वायु कहीं रुकी हुई मालूम देगी और कहीं चलती हुई मालूम देगी, तो भी वह आकाशमें ही रहेगी। आकाशको छोड़कर वह कहीं रह ही नहीं सकती। ऐसे ही तीनों लोकों और चौदह भुवनोंमें घूमनेवाले स्थावर-जंगम सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें ही स्थित रहते हैं—‘तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि’।

भगवान्ने चौथे श्लोकसे छठे श्लोकतक तीन बार ‘मत्स्थानि’ शब्दका प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ये सम्पूर्ण प्राणी मेरेमें ही स्थित हैं। मेरेको छोड़कर ये कहीं जा सकते ही नहीं। ये प्राणी प्रकृति और

प्रकृतिके कार्य शरीर आदिके साथ कितना ही घनिष्ठ सम्बन्ध मान लें, तो भी वे प्रकृति और उसके कार्यसे एक हो सकते ही नहीं; और अपनेको मेरेसे कितना ही अलग मान लें, तो भी वे मेरेसे अलग हो सकते ही नहीं।

वायुको आकाशमें नित्य स्थित बतानेका तात्पर्य यह है कि वायु आकाशसे कभी अलग हो ही नहीं सकती। वायुमें यह किंचिन्मात्र भी शक्ति नहीं है कि वह आकाशसे अलग हो जाय; क्योंकि आकाशके साथ उसका नित्य-निरन्तर घनिष्ठ सम्बन्ध अर्थात् अभिन्नता है। वायु आकाशका कार्य है और कार्यकी कारणके साथ अभिन्नता होती है। कार्य केवल कार्यकी दृष्टिसे देखनेपर कारणसे भिन्न दीखता है; परन्तु कारणसे कार्यकी अलग सत्ता नहीं होती। जिस समय कार्य कारणमें लीन रहता है, उस समय कार्य कारणमें प्रागभावरूपसे अर्थात् अप्रकटरूपसे रहता है, उत्पन्न होनेपर कार्य भावरूपसे अर्थात् प्रकटरूपसे रहता है और लीन

‘पूर्वोक्त साधन करनेवाले भक्तका ‘सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है’ ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् ‘सब कुछ परमात्मा ही हैं’ यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगे।’

होनेपर कार्य प्रध्वंसाभावरूपसे अर्थात् कारणरूपसे रहता है। कार्यका प्रध्वंसाभाव नित्य रहता है, उसका कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि वह कारणरूप ही हो जाता है। इस रीतिसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही स्थित रहती है और आकाशमें ही लीन हो जाती है अर्थात् वायुकी स्वतन्त्र सत्ता न रहकर आकाश ही रह जाता है। ऐसे ही यह जीवात्मा परमात्मासे ही प्रकट होता है, परमात्मामें ही स्थित रहता है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है अर्थात् जीवात्माकी स्वतन्त्र सत्ता न रहकर केवल परमात्मा ही रह जाते हैं।

जैसे वायु गतिशील होती है अर्थात् सब जगह घूमती है, ऐसे यह जीवात्मा गतिशील नहीं होता। परन्तु जब यह गतिशील प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ अपनापन (मैं-मेरापन) कर लेता है, तब शरीरकी गति इसको अपनी गति दीखने लग जाती है। गतिशीलता दीखनेपर भी यह नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही स्थित रहता है। इसलिये दूसरे अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भगवान्ने जीवात्माको नित्य, सर्वगत, अचल, स्थाणु और सनातन बताया है। यहाँ शरीरोंकी गतिशीलताके कारण इसको 'सर्वगत' बताया है। अर्थात् यह सब जगह विचरनेवाला दीखता हुआ भी अचल और स्थाणु है। यह स्थिर स्वभाववाला है। इसमें हिलने-डुलनेकी क्रिया नहीं है। इसलिये भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि सब प्राणी अटलरूपसे नित्य-निरन्तर मेरेमें ही स्थित हैं।

तात्पर्य हुआ कि तीनों लोक और चौदह भुवनोंमें घूमनेवाले जीवोंकी परमात्मासे भिन्न किंचिन्मात्र भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और हो सकती भी नहीं अर्थात् सब योनियोंमें घूमते रहनेपर भी वे नित्य-निरन्तर परमात्माके सच्चिदानन्दधन-स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। परन्तु प्रकृतिके कार्यके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे इसका अनुभव नहीं हो रहा है। अगर ये मनुष्य-शरीरमें अपनापन न करें, मैं-मेरापन न करें तो इनको असीम आनन्दका अनुभव हो जाय। इसलिये मनुष्यमात्रको चेतावनी देनेके लिये यहाँ भगवान् कहते हैं कि तुम मेरेमें नित्य-निरन्तर स्थित हो, फिर मेरी प्राप्तिमें परिश्रम और देरी किस बातकी? मेरेमें अपनी स्थिति न माननेसे और न जाननेसे ही मेरेसे दूरी प्रतीत हो रही है।

'इति उपधारय'—यह बात तुम विशेषतासे धारण कर लो, मान लो कि चाहे सर्ग-(सृष्टि-) का समय हो, चाहे

प्रलयका समय हो, अनन्त ब्रह्माण्डोंके सम्पूर्ण प्राणी सर्वथा मेरेमें ही रहते हैं; मेरेसे अलग उनकी स्थिति कभी हो ही नहीं सकती। ऐसा दृढ़तासे मान लेनेपर प्रकृतिके कार्यसे विमुखता हो जायगी और वास्तविक तत्त्वका अनुभव हो जायगा।

इस वास्तविक तत्त्वका अनुभव करनेके लिये साधक दृढ़तासे ऐसा मान ले कि जो सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें सर्वथा परिपूर्ण हैं, वे परमात्मा ही मेरे हैं। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि कोई भी मेरा नहीं है और मैं उनका नहीं हूँ।

### विशेष बात

सम्पूर्ण जीव भगवान्में ही स्थित रहते हैं। भगवान्में स्थित रहते हुए भी जीवोंके शरीरोंमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका क्रम चलता रहता है; क्योंकि सभी शरीर परिवर्तनशील हैं और यह जीव स्वयं अपरिवर्तनशील है। इस जीवकी परमात्माके साथ तात्त्विक एकता है। परन्तु जब यह जीव परमात्मासे विमुख होकर शरीरके साथ अपनी एकता मान लेता है, तब इसे 'मैं'-पनकी स्वतन्त्र सत्ताका भान होने लगता है कि 'मैं शरीर हूँ।' इस 'मैं'-पनमें एक तो परमात्माका अंश है और एक प्रकृतिका अंश है—यह जीवका स्वरूप हुआ। जीव अंश तो है परमात्माका, पर पकड़ लेता है प्रकृतिके अंशको।

इस 'मैं'-पनमें जो प्रकृतिका अंश है, वह स्वतः ही प्रकृतिकी तरफ खिंचता है। परन्तु प्रकृतिके अंशके साथ तादात्म्य होनेसे परमात्माका अंश जीव उस खिंचावको अपना खिंचाव मान लेता है और 'मुझे सुख मिल जाय, धन मिल जाय, भोग मिल जाय'—ऐसा भाव कर लेता है। ऐसा भाव करनेसे वह परमात्मासे विशेष विमुख हो जाता है। उसमें 'संसारका सुख हरदम रहे; पदार्थोंका संयोग हरदम रहे; यह शरीर मेरे साथ और मैं शरीरके साथ सदा रहूँ'—ऐसी जो इच्छा रहती है, यह इच्छा वास्तवमें परमात्माके साथ रहनेकी है; क्योंकि उसका नित्य सम्बन्ध तो परमात्माके साथ ही है।

जीव शरीरोंके साथ कितना ही घुल-मिल जाय, पर परमात्माकी तरफ उसका खिंचाव कभी मिटता नहीं, मिटनेकी सम्भावना ही नहीं। 'मैं नित्य-निरन्तर रहूँ, सदा रहूँ, सदा सुखी रहूँ तथा मुझे सर्वोपरि सुख मिले'—इस रूपमें परमात्माका खिंचाव रहता ही है। परन्तु उससे भूल यह होती है कि वह (जड़-अंशकी मुख्यतासे) इस सर्वोपरि

सुखको जडके द्वारा ही प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। वह भूलसे उस सुखको चाहने लगता है, जिस सुखपर उसका अधिकार नहीं है। अगर वह सजग, सावधान हो जाय और 'भोगोंमें कोई सुख नहीं है, आजतक कोई-सा भी संयोग नहीं रहा, रहना सम्भव ही नहीं'—ऐसा समझ ले, तो सांसारिक संयोगजन्य सुखकी इच्छा मिट जायगी और

वास्तविक, सर्वोपरि, नित्य रहनेवाले सुखकी इच्छा (जो कि आवश्यकता है) जाग्रत् हो जायगी। यह आवश्यकता ज्यों-ज्यों जाग्रत् होगी, त्यों-ही-त्यों नाशवान् पदार्थोंसे विमुखता होती चली जायगी। नाशवान् पदार्थोंसे सर्वथा विमुखता होनेपर 'मेरी स्थिति तो अनादिकालसे परमात्मामें ही है'—इसका अनुभव हो जायगा।

**परिशिष्ट भाव**—जैसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही स्थित रहती है तथा आकाशमें ही लीन हो जाती है अर्थात् आकाशको छोड़कर वायुकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी भगवान्से ही उत्पन्न होते हैं, भगवान्में ही स्थित रहते हैं तथा भगवान्में ही लीन हो जाते हैं अर्थात् भगवान्को छोड़कर प्राणियोंकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—इस बातको साधक दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो उसको 'सब कुछ भगवान् ही हैं' इस वास्तविक तत्त्वका अनुभव हो जायगा।

इस श्लोकको समझनेके लिये कार्य-कारणभाव जैसा ठीक बैठता है, वैसा विवर्तवाद ठीक नहीं बैठता। 'विवर्त' का अर्थ है— विरुद्ध बर्ताव। जो नहीं है और दीखता है, जैसे रस्सीमें साँप दीखना—यह विवर्तवाद है। विवर्तवादमें दो सत्ता होना आवश्यक है; जैसे—रस्सी और उसमें दीखनेवाला साँप—दोनोंकी अलग-अलग (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) सत्ता है। परन्तु गीताके इस श्लोकमें आकाश और वायुका दृष्टान्त दिया गया है, जो दोनों एक ही (व्यावहारिक) सत्ता है। तात्पर्य है कि रस्सीमें साँपकी तरह आकाशमें वायु अध्यस्त नहीं है अथवा आकाशमें वायुकी प्रतीतिमात्र नहीं है, प्रत्युत वायु आकाशका कार्य है। कार्यकी कारणके साथ अभिन्नता होती है अर्थात् कार्य और कारणकी एक सत्ता होती है; जैसे—सोना और उसका कार्य गहने—दोनोंकी एक सत्ता है। अतः जैसे सोना और गहने—दोनोंमें तत्त्वसे एक सोना-ही-सोना है, ऐसे ही परमात्मा और सम्पूर्ण प्राणी—दोनोंमें तत्त्वसे एक परमात्मा-ही-परमात्मा है। इसी बातको गीताने 'वासुदेवः सर्वम्' (७। १९) और 'सदसच्चाहम्' (९। १९) पदोंसे कहा है, जो गीताका खास सिद्धान्त है। विवर्तवाद सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत संसारमें सत्यत्वबुद्धि हटानेका एक साधन है।

अगर वायु स्पन्दित हो तो वायुमें आकाश है और आकाशमें वायु है। अगर वायु स्पन्दित न हो तो न वायुमें आकाश है, न आकाशमें वायु है अर्थात् आकाश-ही-आकाश है। दूसरे शब्दोंमें, जबतक वायुकी स्वतन्त्र सत्ताकी मान्यता है, तबतक आकाशमें वायु और वायुमें आकाश है। परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो न आकाशमें वायु है, न वायुमें आकाश है अर्थात् आकाश-ही-आकाश है। इसी तरह तात्त्विक दृष्टिसे न परमात्मामें प्राणी हैं, न प्राणियोंमें परमात्मा है अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा है (गीता—इसी अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)।

इस श्लोकमें वायुके लिये दो पद आये हैं—'सर्वत्रगः' और 'महान्'। इससे यह समझना चाहिये कि जीवात्मा भी संसारकी दृष्टिसे (प्रकृतिके सम्बन्धसे) चौरासी लाख योनियाँ, तीन लोक, चौदह भुवन आदिमें घूमनेके कारण 'सर्वत्रगः' है। 'महान्' पदसे अनन्त ब्रह्माण्डोंके सभी जीव (जीव-समुदाय) समझना चाहिये। जैसे वायु नित्य ही आकाशमें स्थित रहती है अर्थात् वायुका आकाशके साथ नित्य सम्बन्ध है, ऐसे ही जीवमात्रका परमात्माके साथ नित्य सम्बन्ध (नित्ययोग) है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने सम्पूर्ण प्राणियोंकी स्थिति अपनेमें बतायी, पर उनके महासर्ग और महाप्रलयका वर्णन करना बाकी रह गया। अतः उसका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

**सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।**

**कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥**

कौन्तेय = हे कुन्तीनन्दन !  
कल्पक्षये = कल्पोंका क्षय होनेपर

(महाप्रलय-  
के समय)  
सर्वभूतानि = सम्पूर्ण प्राणी

मामिकाम् = मेरी  
प्रकृतिम् = प्रकृतिको  
यान्ति = प्राप्त होते हैं (और)

कल्पादौ	= कल्पोंके आदिमें (महासर्गके समय)	अहम्	= मैं	तानि	= उनकी
		पुनः	= फिर	विसृजामि	= रचना करता हूँ।

व्याख्या—‘सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकां कल्पक्षये’—सम्पूर्ण प्राणी मेरे ही अंश हैं और सदा मेरेमें ही स्थित रहनेवाले हैं। परन्तु वे प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर आदिके साथ तादात्म्य (मैं-मेरेपनका सम्बन्ध) करके जो कुछ भी कर्म करते हैं, उन कर्मों तथा उनके फलोंके साथ उनका सम्बन्ध जुड़ता जाता है, जिससे वे बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं। जब महाप्रलयका समय आता है (जिसमें ब्रह्माजी सौ वर्षकी आयु पूरी होनेपर लीन हो जाते हैं), उस समय प्रकृतिके परवश हुए वे सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिजन्य सम्बन्धको लेकर अर्थात् अपने-अपने कर्मोंको लेकर मेरी प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं।

महासर्गके समय प्राणियोंका जो स्वभाव होता है, उसी स्वभावको लेकर वे महाप्रलयमें लीन होते हैं।

‘पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्’—महाप्रलयके समय अपने-अपने कर्मोंको लेकर प्रकृतिमें लीन हुए प्राणियोंके कर्म जब परिपक्व होकर फल देनेके लिये उन्मुख हो जाते हैं, तब प्रभुके मनमें ‘बहु स्यां प्रजायेय’ ऐसा संकल्प हो जाता है। यही महासर्गका आरम्भ है। इसीको आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा है—‘भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः’ अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंका जो होनापन है, उसको प्रकट करनेके लिये भगवान्का जो संकल्प है, यही विसर्ग (त्याग) है और यही आदिकर्म है। चौदहवें अध्यायमें इसीको ‘गर्भं दधाम्यहम्’ (१४। ३) और ‘अहं बीजप्रदः पिता’ (१४। ४) कहा है।

तात्पर्य यह हुआ कि कल्पोंके आदिमें अर्थात् महासर्गके आदिमें ब्रह्माजीके प्रकट होनेपर मैं पुनः प्रकृतिमें लीन हुए, प्रकृतिके परवश हुए, उन जीवोंका उनके कर्मोंके अनुसार उन-उन योनियों-(शरीरों-) के साथ विशेष सम्बन्ध करा देता हूँ—यह मेरा उनको रचना है। इसीको भगवान्ने चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें कहा है—‘चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः’ अर्थात् मेरे द्वारा गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक चारों वर्णोंकी रचना की गयी है।

ब्रह्माजीके एक दिनका नाम ‘कल्प’ है, जो मानवीय एक हजार चतुर्युगीका होता है। इतने ही समयकी ब्रह्माजीकी एक रात होती है। इस हिसाबसे ब्रह्माजीकी आयु सौ वर्षोंकी होती है। ब्रह्माजीकी आयु समाप्त होनेपर जब ब्रह्माजी लीन हो जाते हैं, उस महाप्रलयको यहाँ ‘कल्पक्षये’ पदसे कहा गया है। जब ब्रह्माजी पुनः प्रकट होते हैं, उस महासर्गको यहाँ ‘कल्पादौ’ पदसे कहा गया है।

यहाँ ‘सर्वभूतानि प्रकृतिं यान्ति’ महाप्रलयमें तो जीव स्वयं प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और ‘तानि कल्पादौ विसृजामि’ महासर्गके आदिमें मैं उनकी रचना करता हूँ—ये दो प्रकारकी क्रियाएँ देनेका तात्पर्य है कि क्रियाशील होनेसे प्रकृति स्वयं लयकी तरफ जाती है अर्थात् क्रिया करते-करते थकावट होती है तो प्रकृतिका परमात्मामें लय होता है। ऐसी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखनेसे महाप्रलयके समय प्राणी भी स्वयं प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं और प्रकृति परमात्मामें लीन हो जाती है। महासर्गके आदिमें उनके परिपक्व कर्मोंका फल देकर उनको शुद्ध करनेके लिये मैं उनके शरीरोंकी रचना करता हूँ। रचना उन्हीं प्राणियोंकी करता हूँ, जो कि प्रकृतिके परवश हुए हैं। जैसे मकानका निर्माण तो किया जाता है, पर वह धीरे-धीरे स्वतः गिर जाता है, ऐसे ही सृष्टिकी रचना तो भगवान् करते हैं, पर प्रलय स्वतः होता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रकृतिके कार्य-(संसार-शरीर-) की रचनामें तो भगवान्का हाथ होता है; पर प्रकृतिका कार्य ह्रासकी तरफ स्वतः जाता है। ऐसे ही भगवान्का अंश होनेके कारण जीव स्वतः भगवान्की तरफ, उत्थानकी तरफ जाता है। परन्तु जब वह कामना, ममता, आसक्ति करके स्वतः पतन-(ह्रास-) की तरफ जानेवाले नाशवान् शरीर-संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह पतनकी तरफ चला जाता है। इसलिये मनुष्यको अपने विवेकको महत्त्व देकर तत्परतासे अपना उत्थान करना चाहिये अर्थात् कामना, ममता, आसक्तिका त्याग करके केवल भगवान्के ही सम्मुख हो जाना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—सृष्टिमें तीन बातें मुख्य हैं—उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय। साधककी दृष्टि संसारकी स्थितिकी तरफ ही रहती है, इसलिये पहले पूर्वश्लोकमें स्थितिकी बात कहकर अब भगवान् इस श्लोकमें उत्पत्ति और प्रलयकी बात कहते हैं। तात्पर्य है कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—तीनों ही समग्र परमात्मासे होते हैं।

वास्तवमें संसारकी स्थिति है ही नहीं, प्रत्युत उत्पत्ति और प्रलयके प्रवाहको ही स्थिति कह देते हैं। तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो संसारकी उत्पत्ति भी नहीं है, प्रत्युत प्रलय-ही-प्रलय अर्थात् अभाव-ही-अभाव है। अतः संसारका प्रलय, अभाव अथवा वियोग ही मुख्य है—‘नासतो विद्यते भावः’ (गीता २। १६)।

## प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः । भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

प्रकृतेः	= प्रकृतिके	कृत्स्नम्	= सम्पूर्ण	प्रकृतिम्	= प्रकृतिको
वशात्	= वशमें होनेसे	भूतग्रामम्	= प्राणिसमुदायकी (कल्पोंके आदिमें)	अवष्टभ्य	= वशमें करके
अवशम्	= परतन्त्र हुए	स्वाम्	= (मैं) अपनी	पुनः, पुनः	= बार-बार
इमम्	= इस			विसृजामि	= रचना करता हूँ।

**व्याख्या—**‘भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्’—यहाँ ‘प्रकृति’ शब्द व्यष्टि प्रकृतिका वाचक है। महाप्रलयके समय सभी प्राणी अपनी व्यष्टि प्रकृति- (कारणशरीर-) में लीन हो जाते हैं, व्यष्टि प्रकृति समष्टि प्रकृतिमें लीन होती है और समष्टि प्रकृति परमात्मामें लीन हो जाती है। परन्तु जब महासर्गका समय आता है, तब जीवोंके कर्म फल देनेके लिये उन्मुख हो जाते हैं। उस उन्मुखताके कारण भगवानमें ‘बहु स्यां प्रजायेय’ (छान्दोग्य० ६। २। ३)—यह संकल्प होता है, जिससे समष्टि प्रकृतिमें क्षोभ (हलचल) पैदा हो जाता है। जैसे, दहीको बिलोया जाय तो उसमें मक्खन और छाछ—ये दो चीजें पैदा हो जाती हैं। मक्खन तो ऊपर आ जाता है और छाछ नीचे रह जाती है। यहाँ मक्खन सात्त्विक है, छाछ तामस है और बिलोनारूप क्रिया राजस है। ऐसे ही भगवान्के संकल्पसे प्रकृतिमें क्षोभ हुआ तो प्रकृतिसे सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीनों गुण पैदा हो गये। उन तीनों गुणोंसे स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—ये तीनों लोक पैदा हुए। उन तीनों लोकोंमें भी अपने-अपने गुण, कर्म और स्वभावसे सात्त्विक, राजस और तामस जीव पैदा हुए अर्थात् कोई सत्त्व-प्रधान हैं, कोई रजःप्रधान हैं और कोई तमःप्रधान हैं।

इसी महासर्गका वर्णन चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें भी किया गया है। वहाँ परमात्माकी प्रकृतिको ‘महद्ब्रह्म’ कहा गया है और परमात्माके अंश जीवोंका अपने-अपने गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध करा देनेको बीज-स्थापन करना कहा गया है।

ये जीव महाप्रलयके समय प्रकृतिमें लीन हुए थे, तो तत्त्वतः प्रकृतिका कार्य प्रकृतिमें लीन हुआ था और

परमात्माका अंश—चेतन-समुदाय परमात्मामें लीन हुआ था। परन्तु वह चेतन-समुदाय अपने गुणों और कर्मोंके संस्कारोंको साथ लेकर ही परमात्मामें लीन हुआ था, इसलिये परमात्मामें लीन होनेपर भी वह मुक्त नहीं हुआ। अगर वह लीन होनेसे पहले गुणोंका त्याग कर देता, तो परमात्मामें लीन होनेपर सदाके लिये मुक्त हो जाता, जन्म-मरणरूप बन्धनसे छूट जाता। उन गुणोंका त्याग न करनेसे ही उसका महासर्गके आदिमें अलग-अलग योनियोंके शरीरोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है अर्थात् अलग-अलग योनियोंमें जन्म हो जाता है।

अलग-अलग योनियोंमें जन्म होनेमें इस चेतन-समुदायकी व्यष्टि प्रकृति अर्थात् गुण, कर्म आदिसे माने हुए स्वभावकी परवशता ही कारण है। आठवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जो परवशता बतायी गयी है, वह भी व्यष्टि प्रकृतिकी है। तीसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जो अवशता बतायी गयी है, वह जन्म होनेके बादकी परवशता है। यह परवशता तीनों लोकोंमें है। इसी परवशताका चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें गुणोंकी परवशताके रूपमें वर्णन हुआ है।

‘प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य’—प्रकृति परमात्माकी एक अनिर्वचनीय अलौकिक विलक्षण शक्ति है। इसको परमात्मासे भिन्न भी नहीं कह सकते और अभिन्न भी नहीं कह सकते। ऐसी अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके परमात्मा महासर्गके आदिमें प्रकृतिके परवश हुए जीवोंकी रचना करते हैं।

परमात्मा प्रकृतिको लेकर ही सृष्टिकी रचना करते हैं, प्रकृतिके बिना नहीं। कारण कि सृष्टिमें जो परिवर्तन होता है, उत्पत्ति-विनाश होता है, वह सब प्रकृतिमें ही होता है,



भगवान्में नहीं। अतः भगवान् क्रियाशील प्रकृतिको लेकर ही सृष्टिकी रचना करते हैं। इसमें भगवान्की कोई असमर्थता, पराधीनता, अभाव, कमजोरी आदि नहीं है।

जैसे मनुष्यके द्वारा विभिन्न कार्य होते हैं, तो वे विभिन्न करण, उपकरण, इन्द्रियों और वृत्तियोंसे होते हैं। पर यह मनुष्यकी कमजोरी नहीं है, प्रत्युत यह उसका इन करण, उपकरण आदिपर आधिपत्य है, जिससे वह इनके द्वारा कर्म करा लेता है। (हाँ, मनुष्यमें यह कमी है कि वह उन कर्मोंको अपना और अपने लिये मान लेता है, जिससे वह लिप्त हो जाता है अर्थात् अधिपति होता हुआ भी गुलाम हो जाता है।) ऐसे ही भगवान् सृष्टिकी रचना करते हैं तो उनका प्रकृतिपर आधिपत्य ही सिद्ध होता है। पर आधिपत्य होनेपर भी भगवान्में लिप्तता आदि नहीं होती।

**परिशिष्ट भाव**—तत्त्वसे प्रकृति भगवान्से अभिन्न है। अतः वास्तवमें भगवान्का स्वरूप प्रकृतिसहित ही है। भगवान्को प्रकृतिरहित मानना उनको एकदेशीय मानना है, जो सम्भव ही नहीं है।

**‘अवशं प्रकृतेर्वशात्’**—परा प्रकृति अर्थात् स्वयं सर्वथा स्वतन्त्र (स्वस्थ) है। विजातीय अपरा प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही वह परतन्त्र (प्रकृतिस्थ) हुआ है, अन्यथा वह परतन्त्र हो सकता ही नहीं। गुणोंका संग होना ही परतन्त्रता है—**‘कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु’** (गीता १३। २१)।

जो प्रकृतिके वशमें (अवश) हैं, उन्हीं प्राणियोंकी भगवान् बार-बार रचना करते हैं। जो प्रकृतिके वशमें (अवश) नहीं हैं, उनकी रचना नहीं होती—**‘सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च’** (गीता १४। २)।

**सम्बन्ध**—आसक्ति और कर्तृत्वाभिमानपूर्वक कर्म करनेसे मनुष्य कर्मोंसे बँध जाता है। भगवान् बार-बार सृष्टि-रचनारूप कर्म करनेसे भी क्यों नहीं बँधते? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

**न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।**

**उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥**

धनञ्जय	= हे धनंजय!	च	= और	तानि	= वे
तेषु	= उन (सृष्टि-रचना आदि)	उदासीनवत्	= उदासीनकी तरह	कर्माणि	= कर्म
कर्मसु	= कर्मोंमें	आसीनम्	= रहते हुए	न	= नहीं
असक्तम्	= अनासक्त	माम्	= मुझे	निबध्नन्ति	= बाँधते।

**व्याख्या**—‘उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु’—महासर्गके आदिमें प्रकृतिके परवश हुए प्राणियोंकी उनके कर्मोंके अनुसार विविध प्रकारसे रचनारूप जो कर्म है, उसमें मेरी आसक्ति नहीं है। कारण कि मैं उनमें उदासीनकी तरह रहता हूँ अर्थात् प्राणियोंके उत्पन्न होनेपर मैं हर्षित नहीं

होता और उनके प्रकृतिमें लीन होनेपर मैं खिन्न नहीं होता।

यहाँ ‘उदासीनवत्’ पदमें जो ‘वत्’ (वति) प्रत्यय है, उसका अर्थ ‘तरह’ होता है; अतः इस पदका अर्थ हुआ—उदासीनकी तरह। भगवान्ने अपनेको उदासीनकी तरह क्यों कहा? कारण कि मनुष्य उसी वस्तुसे उदासीन होता है,

\* यहाँ (छठे, सातवें और आठवें श्लोकमें) ‘विसृजामि’ पदसे उत्पत्तिका, ‘मत्स्थानि’ पदसे स्थितिका और ‘प्रकृतिं यान्ति मामिकां कल्पक्षये’ पदोंसे प्रलयका वर्णन आ गया है।

जिस वस्तुकी वह सत्ता मानता है। परन्तु जिस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, उसकी भगवान्के सिवाय कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। इसलिये भगवान् उस संसारकी रचनारूप कर्मसे उदासीन क्या रहें? वे तो उदासीनकी तरह रहते हैं; क्योंकि भगवान्की दृष्टिमें संसारकी कोई सत्ता ही नहीं है। तात्पर्य है कि वास्तवमें यह सब भगवान्का ही स्वरूप है, इनकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, तो अपने स्वरूपसे भगवान् क्या उदासीन रहें? इसलिये भगवान् उदासीनकी तरह हैं।

‘न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति’—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने कहा कि मैं प्राणियोंको बार-बार रचता हूँ, उन रचनारूप कर्मोंको ही यहाँ ‘तानि’ कहा गया है। वे कर्म मेरेको नहीं बाँधते; क्योंकि उन कर्मों और उनके फलोंके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा कहकर भगवान्

मनुष्यमात्रको यह शिक्षा देते हैं, कर्म-बन्धनसे छूटनेकी युक्ति बताते हैं कि जैसे मैं कर्मोंमें आसक्त न होनेसे बँधता नहीं हूँ, ऐसे ही तुमलोग भी कर्मोंमें और उनके फलोंमें आसक्ति न रखो, तो सब कर्म करते हुए भी उनसे बँधोगे नहीं। अगर तुमलोग कर्मोंमें और उनके फलोंमें आसक्ति रखोगे, तो तुमको दुःख पाना ही पड़ेगा, बार-बार जन्मना-मरना ही पड़ेगा। कारण कि कर्मोंका आरम्भ और अन्त होता है तथा फल भी उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर कर्मफलकी इच्छाके कारण मनुष्य बँध जाता है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि कर्म और उसका फल तो नहीं रहता, पर (फलेच्छाके कारण) बन्धन रह जाता है! ऐसे ही वस्तु नहीं रहती, पर वस्तुका सम्बन्ध (बन्धन) रह जाता है! सम्बन्धी नहीं रहता, पर उसका सम्बन्ध रह जाता है! मूर्खताकी बलिहारी है!!

**परिशिष्ट भाव—**‘कर्मोंसे मनुष्य बँधता है ( कर्मणा बध्यते जन्तुः )—इस सांसारिक दृष्टिसे ही भगवान् कहते हैं कि मैं कर्मोंसे नहीं बँधता (गीता—चौथे अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); क्योंकि मेरेमें न कर्मासक्ति है, न फलासक्ति है और न कर्तृत्व है। परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो कर्मोंकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं! सृष्टि-रचना-रूप कर्म भगवान्का ही स्वरूप है—‘ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्’ (गीता ७। २९), ‘भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः’ (गीता ८। ३)। तात्पर्य है कि सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि जो कुछ हो रहा है, वह सब भगवान्के द्वारा ही हो रहा है तथा भगवान्का ही स्वरूप है। उत्पन्न करनेवाला तथा उत्पन्न होनेवाला, पालन करनेवाला तथा पालित होनेवाला, नाश करनेवाला तथा नष्ट होनेवाला—ये सब एक ही समग्र भगवान्के अंग (स्वरूप) हैं—‘अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा’ (गीता ७। ६)।

सब कुछ भगवान् ही हैं, दूसरा कोई है ही नहीं, फिर भगवान् किससे उदासीन हों? इसलिये भगवान्ने अपनेको ‘उदासीनवत्’ अर्थात् उदासीनकी तरह कहा है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें आसक्तिका निषेध करके अब भगवान् कर्तृत्वाभिमानका निषेध करते हैं।

**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।  
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥**

प्रकृतिः	= प्रकृति	जगत्की	हेतुना	= हेतुसे
मया	= मेरी	सूयते	जगत्	= जगत्का (विविध प्रकारसे)
अध्यक्षेण	= अध्यक्षतामें	कौन्तेय	विपरिवर्तते	= परिवर्तन होता है।
सचराचरम्	= चराचरसहित सम्पूर्ण	अनेन		

**व्याख्या—**‘मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्’—मेरेसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति चर-अचर, जड-चेतन आदि भौतिक सृष्टिको रचती है। जैसे बर्फका जमना, हीटरका जलना, ट्राम और रेलका आना-जाना, लिफ्टका चढ़ना-उतरना, हजारों मील दूरीपर बोले जानेवाले शब्दोंको

सुनना, हजारों मील दूरीपर होनेवाले नाटक आदिको देखना, शरीरके भीतरका चित्र लेना, अल्पसमयमें ही बड़े-से-बड़ा हिसाब कर लेना, आदि-आदि कार्य विभिन्न-विभिन्न यन्त्रोंके द्वारा होते हैं। परन्तु उन सभी यन्त्रोंमें शक्ति बिजलीकी ही होती है। बिजलीकी शक्तिके बिना वे यन्त्र

स्वयं काम कर ही नहीं सकते; क्योंकि उन यन्त्रोंमें बिजलीको छोड़कर कोई सामर्थ्य नहीं है। ऐसे ही संसारमें जो कुछ परिवर्तन हो रहा है अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्डोंका सर्जन, पालन और संहार, स्वर्गादि लोकोंमें और नरकोंमें पुण्य-पापके फलका भोग, तरह-तरहकी विचित्र परिस्थितियाँ और घटनाएँ, तरह-तरहकी आकृतियाँ, वेश-भूषा, स्वभाव आदि जो कुछ हो रहा है, वह सब-का-सब प्रकृतिके द्वारा ही हो रहा है; पर वास्तवमें हो रहा है भगवान्की अध्यक्षता अर्थात् सत्ता-स्फूर्तिसे ही। भगवान्की सत्ता-स्फूर्तिके बिना प्रकृति ऐसे विचित्र काम कर ही नहीं सकती; क्योंकि भगवान्को छोड़कर प्रकृतिमें ऐसी स्वतन्त्र सामर्थ्य ही नहीं है कि जिससे वह ऐसे-ऐसे काम कर सके। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे बिजलीमें सब शक्तियाँ हैं, पर वे मशीनोंके द्वारा ही प्रकट होती हैं, ऐसे ही भगवान्में अनन्त शक्तियाँ हैं, पर वे प्रकृतिके द्वारा ही प्रकट होती हैं।

भगवान् संसारकी रचना प्रकृतिको लेकर करते हैं; और प्रकृति संसारकी रचना भगवान्की अध्यक्षतामें करती है। 'भगवान् अध्यक्ष हैं'—इसी हेतुसे जगत्का विविध परिवर्तन होता है—'हेतुनानेन जगद्विपरिवर्तते'। वह विविध परिवर्तन क्या है? जबतक प्राणियोंका प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीरोंके साथ 'मैं' और 'मेरा-पन' बना हुआ है, तबतक उनका विविध परिवर्तन होता ही रहता है अर्थात् कभी किसी लोकमें तो कभी किसी लोकमें, कभी किसी शरीरमें तो कभी किसी शरीरमें परिवर्तन होता ही रहता है। तात्पर्य हुआ कि भगवत्प्राप्तिके बिना उन प्राणियोंकी कहीं भी स्थायी स्थिति नहीं होती। वे जन्म-मरणके चक्करमें घूमते ही रहते हैं (गीता—नवें अध्यायका तीसरा श्लोक)।

सभी प्राणी भगवान्में स्थित होनेसे भगवान्को प्राप्त हैं, पर जब वे अपनेको भगवान्में न मानकर प्रकृतिमें मान लेते हैं अर्थात् प्रकृतिके कार्यके साथ 'मैं' और 'मेरा-पन' का सम्बन्ध मान लेते हैं, तब वे प्रकृतिको प्राप्त हो जाते हैं। फिर भगवान्की अध्यक्षतामें प्रकृति उनके शरीरोंको

उत्पन्न और लीन करती रहती है। वास्तवमें देखा जाय तो उन प्राणियोंको उत्पन्न और लीन करनेकी शक्ति प्रकृतिमें नहीं है; क्योंकि वह जड़ है। यह स्वयं भी जन्मता-मरता नहीं; क्योंकि परमात्माका अंश होनेसे स्वयं अविनाशी है, चेतन है, निर्विकार है। परन्तु प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ मैं-मेरापनका सम्बन्ध जोड़कर, उनके परवश होकर इसको जन्मना-मरना पड़ता है अर्थात् नये-नये शरीर धारण करने और छोड़ने पड़ते हैं।

जगत्-मात्रकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी जो क्रिया होती है, वह सब प्रकृतिसे ही होती है, प्रकृतिमें ही होती है और प्रकृतिकी ही होती है। परन्तु उस प्रकृतिको परमात्मासे ही सत्ता-स्फूर्ति मिलती है। परमात्मासे सत्ता-स्फूर्ति मिलनेपर भी परमात्मामें कर्तृत्व नहीं आता। जैसे, सूर्यके प्रकाशमें सभी प्राणी सब कर्म करते हैं और उनके कर्मोंमें विहित तथा निषिद्ध सब तरहकी क्रियाएँ होती हैं। उन कर्मोंके अनुसार ही प्राणी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंका अनुभव करते हैं अर्थात् कोई सुखी है तो कोई दुःखी है; कोई ऊँचा है तो कोई नीचा है, कोई किसी लोकमें है तो कोई किसी लोकमें है, कोई किसी वर्ण-आश्रममें है तो कोई किसी वर्ण-आश्रममें है आदि तरह-तरहका परिवर्तन होता है। परन्तु सूर्य और उसका प्रकाश ज्यों-का-त्यों ही रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई अन्तर नहीं आता। ऐसे ही संसारमें विविध प्रकारका परिवर्तन हो रहा है, पर परमात्मा और उनका अंश जीवात्मा ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं। वास्तवमें अपने स्वरूपमें किंचिन्मात्र भी परिवर्तन न है, न हुआ, न होगा और न हो ही सकता है। केवल परिवर्तनशील संसारके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे अर्थात् तादात्म्य, ममता और कामना करनेसे ही संसारका परिवर्तन अपनेमें होता हुआ प्रतीत होता है। अगर प्राणी जिन भगवान्की अध्यक्षतामें सब परिवर्तन होता है, उनके साथ अपनी वास्तविक एकता मान ले (जो कि स्वतःसिद्ध है), तो भगवान्के साथ इसका जो वास्तविक प्रेम है, वह स्वतः प्रकट हो जायगा।

**परिशिष्ट भाव**—भगवान्से सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति चराचरसहित सम्पूर्ण प्राणियोंकी रचना करती है अर्थात् सब परिवर्तन प्रकृतिमें ही होता है, भगवान्में नहीं। जबतक प्राणियोंका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक प्रकृतिकी परवशताके कारण उनमें विविध परिवर्तन होता रहता है अर्थात् उनकी कहीं भी स्थायी स्थिति नहीं होती, प्रत्युत वे जन्म-मरणके चक्रमें घूमते रहते हैं।

प्रकृति तो परमात्माके अधीन रहकर सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना करती है, पर जीव प्रकृतिके अधीन होकर जन्म-मरणके चक्रमें घूमता है। तात्पर्य है कि परमात्मा तो स्वतन्त्र है, पर उनका अंश जीवात्मा सुखकी इच्छाके कारण परतन्त्र हो जाता है।

तत्त्वसे भगवान् (शक्तिमान्) और प्रकृति (शक्ति) एक होते हुए भी मनुष्योंको समझानेकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं कि सृष्टिकी रचनामें प्रकृतिका मुख्य हाथ है। वास्तवमें न प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता है, न कर्मोंकी।

अगर भगवान् और उनकी प्रकृतिको अलग-अलग देखें तो संसारका उपादान कारण प्रकृति है और निमित्त कारण भगवान् हैं; क्योंकि संसार-रूपसे भगवान् परिणत नहीं होते, प्रत्युत प्रकृति परिणत होती है। परन्तु भगवान् और उनकी प्रकृतिको एक देखें (जो कि वास्तवमें एक हैं) तो भगवान् संसारके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं।

सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने परा और अपरा प्रकृतिके स्वरूपका वर्णन किया है और यहाँ (नवें अध्यायके आरम्भमें) उनके कार्यो-(उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय-) का वर्णन किया है, जो भगवान्की लीला है। तात्पर्य है कि सातवें अध्यायमें परा-अपराका वर्णन मुख्य है और यहाँ परा-अपराके मालिक-(परमात्मा-) का वर्णन मुख्य है। इस अध्यायमें भगवान्की लीला, प्रभाव, ऐश्वर्यका विशद वर्णन है, जिससे साधकका भगवान्में प्रेम हो जाय, वह मुक्तिमें अटके नहीं।

सम्बन्ध—जो नित्य-निरन्तर अपने-आपमें ही स्थित रहते हैं, जिसके आश्रयसे प्रकृति घूम रही है और संसारमात्रका परिवर्तन हो रहा है, ऐसे परमात्माकी तरफ दृष्टि न डालकर जो उलटे चलते हैं, उनका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

## अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मूढाः	= मूर्खलोग	परम्, भावम्	= श्रेष्ठभावको	आश्रितम्	= आश्रित मानकर
मम	= मेरे	अजानन्तः	= न जानते हुए		अर्थात् साधारण
भूतमहेश्वरम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वररूप	माम्	= मुझे		मनुष्य मानकर
		मानुषीम्,		अवजानन्ति	= (मेरी) अवज्ञा करते हैं।
		तनुम्	= मनुष्यशरीरके		

व्याख्या—‘परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्’—जिसकी सत्ता-स्फूर्ति पाकर प्रकृति अनन्त ब्रह्माण्डोंकी रचना करती है, चर-अचर, स्थावर-जंगम प्राणियोंको पैदा करती है; जो प्रकृति और उसके कार्यमात्रका संचालक, प्रवर्तक, शासक और संरक्षक है; जिसकी इच्छाके बिना वृक्षका पत्ता भी नहीं हिलता; प्राणी अपने कर्मोंके अनुसार जिन-जिन लोकोंमें जाते हैं, उन-उन लोकोंमें प्राणियोंपर शासन करनेवाले जितने देवता हैं, उनका भी जो ईश्वर (मालिक) है और जो सबको जाननेवाला है—ऐसा वह मेरा भूतमहेश्वररूप सर्वोत्कृष्ट भाव (स्वरूप) है।

‘परं भावम्’ कहनेका तात्पर्य है कि मेरे सर्वोत्कृष्ट प्रभावको अर्थात् करनेमें, न करनेमें और उलट-फेर करनेमें जो सर्वथा स्वतन्त्र है; जो कर्म, क्लेश, विपाक आदि किसी भी विकारसे कभी आबद्ध नहीं है; जो क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम है तथा वेदों और शास्त्रोंमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)—ऐसे मेरे परम-भावको मूढ़लोग नहीं जानते, इसीसे वे मेरेको मनुष्य-जैसा मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं।

‘मानुषीं तनुमाश्रितम्’—भगवान्को मनुष्य मानना

क्या है? जैसे साधारण मनुष्य अपनेको शरीर, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति, पद-अधिकार आदिके आश्रित मानते हैं अर्थात् शरीर, कुटुम्ब आदिकी इज्जत-प्रतिष्ठाको अपनी इज्जत-प्रतिष्ठा मानते हैं; उन पदार्थोंके मिलनेसे अपनेको बड़ा मानते हैं और उनके न मिलनेसे अपनेको छोटा मानते हैं; और जैसे साधारण प्राणी पहले प्रकट नहीं थे, बीचमें प्रकट हो जाते हैं तथा अन्तमें पुनः अप्रकट हो जाते हैं (गीता २। २८), ऐसे ही वे मेरेको साधारण मनुष्य मानते हैं। वे मेरेको मनुष्यशरीरके परवश मानते हैं अर्थात् जैसे साधारण मनुष्य होते हैं, ऐसे ही साधारण मनुष्य कृष्ण हैं—ऐसा मानते हैं।

भगवान् शरीरके आश्रित नहीं होते। शरीरके आश्रित तो वे ही होते हैं, जिनको कर्मफलभोगके लिये पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार शरीर मिलता है। परन्तु भगवान्का मानवीय शरीर कर्मजन्य नहीं होता। वे अपनी इच्छासे ही प्रकट होते हैं—‘इच्छयाऽऽत्तवपुषः’ (श्रीमद्भा० १०। ३३। ३५) और स्वतन्त्रतापूर्वक मत्स्य, कच्छप, वराह आदि अवतार लेते हैं। इसलिये उनको न तो कर्मबन्धन होता है और न वे शरीरके आश्रित होते हैं, प्रत्युत शरीर उनके आश्रित होता है—

‘प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवामि’ (गीता ४।६) अर्थात् वे प्रकृतिको अधिकृत करके प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य प्राणी तो प्रकृतिके परवश होकर जन्म लेते हैं तथा प्रकृतिके आश्रित होकर ही कर्म करते हैं, पर भगवान् स्वेच्छासे, स्वतन्त्रतासे अवतार लेते हैं और प्रकृति भी उनकी अध्यक्षतामें काम करती है।

मूढलोग मेरे अवतारके तत्त्वको न जानकर मेरेको मनुष्यशरीरके आश्रित (शरण) मानते हैं अर्थात् उनको होना तो चाहिये मेरे शरण, पर मानते हैं मेरेको मनुष्यशरीरके शरण! तो वे मेरे शरण कैसे होंगे? हो ही नहीं सकते। यही बात भगवान्ने सातवें अध्यायमें कही है कि बुद्धिहीन लोग मेरे अज-अविनाशी परमभावको न जानते

हुए मेरेको साधारण मनुष्य मानते हैं (सातवें अध्यायका चौबीसवाँ-पचीसवाँ श्लोक)। इसलिये वे मेरे शरण न होकर देवताओंके शरण होते हैं (सातवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)।

‘अवजानन्ति मां मूढाः’—जिसकी अध्यक्षतामें प्रकृति अनन्त ब्रह्माण्डोंको उत्पन्न और लीन करती है, जिसकी सत्ता-स्फूर्तिसे संसारमें सब कुछ हो रहा है और जिसने कृपा करके अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्यशरीर दिया है—ऐसे मुझ सत्य-तत्त्वकी मूढलोग अवहेलना करते हैं। वे मेरेको न मानकर उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंको ही सत्य मानकर उनका संग्रह करने और भोग भोगनेमें ही लगे रहते हैं—यही मेरी अवज्ञा, अवहेलना करना है।

**परिशिष्ट भाव**—इस श्लोकमें भगवान्के प्रभावका विशेष वर्णन हुआ है। भगवान्से बड़ा कोई ईश्वर नहीं है। वे सर्वोपरि हैं। परन्तु अज्ञानी मनुष्य उनको स्वरूपसे नहीं जानते। वे अलौकिक भगवान्को भी अपनी तरह लौकिक समझते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण एक योगी थे, ईश्वर नहीं थे। योगके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि (योगदर्शन द्वितीयपाद, उनतीसवाँ सूत्र)। इनमें सबसे पहले ‘यम’ आता है। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (योगदर्शन द्वितीयपाद, तीसवाँ सूत्र)। अतः जो योगी होगा, वह ‘यम’ का पालन अवश्य करेगा अर्थात् वह सत्य ही बोलेगा। अगर वह असत्य बोलता है तो वह योगी नहीं हो सकता; क्योंकि उसने योगके पहले अंग (यम)-का ही पालन नहीं किया! गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने जगह-जगह अपनेको ईश्वर कहा है<sup>१</sup>। अतः अगर वे योगी हैं तो वे सत्य बोलते हैं और अगर वे सत्य बोलते हैं तो वे समग्र ईश्वर हैं—यह मानना ही पड़ेगा।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें अपनी अवज्ञाका फल बताते हैं।

**मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।**

**राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥**

आसुरीम्	= (जो) आसुरी,	विचेतसः	= ऐसे अविवेकी	मोघज्ञानाः	= सब ज्ञान व्यर्थ
राक्षसीम्	= राक्षसी		मनुष्योंकी		होते हैं अर्थात्
च	= और	मोघाशाः	= सब आशाएँ व्यर्थ		उनकी आशाएँ,
मोहिनीम्	= मोहिनी		होती हैं,		कर्म और ज्ञान
प्रकृतिम्	= प्रकृतिका	मोघकर्माणः	= सब शुभकर्म		(समझ) सत्-
एव	= ही		व्यर्थ होते हैं		फल देनेवाले नहीं
श्रिताः	= आश्रय लेते हैं,		(और)		होते।

१-इस अध्यायके चौथे श्लोकसे दसवें श्लोकतक जिस परमात्माका वर्णन हुआ है, उसीको यहाँ ‘माम्’ पदसे कहा गया है।

२-‘भूतानामीश्वरोऽपि सन्’ (४।६), ‘सर्वलोकमहेश्वरम्’ (५।२९), ‘मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति’ (७।७), ‘मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना’ (९।४), ‘यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्’ (१०।३), ‘सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः’ (१५।१५) आदि-आदि।

**व्याख्या—‘मोघाशाः’**—जो लोग भगवान्से विमुख होते हैं, वे सांसारिक भोग चाहते हैं, स्वर्ग चाहते हैं तो उनकी ये सब कामनाएँ व्यर्थ ही होती हैं। कारण कि नाशवान् और परिवर्तनशील वस्तुकी कामना पूरी होगी ही—यह कोई नियम नहीं है। अगर कभी पूरी हो भी जाय, तो वह टिकेगी नहीं अर्थात् फल देकर नष्ट हो जायगी। जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक कितनी ही सांसारिक वस्तुओंकी इच्छाएँ की जायँ और उनका फल भी मिल जाय तो भी वह सब व्यर्थ ही है (गीता—सातवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

**‘मोघकर्माणः’**—भगवान्से विमुख हुए मनुष्य शास्त्रविहित कितने ही शुभकर्म करें, पर अन्तमें वे सभी व्यर्थ हो जायँगे। कारण कि मनुष्य अगर सकामभावसे शास्त्र-विहित यज्ञ, दान आदि कर्म भी करेंगे, तो भी उन कर्मोंका आदि और अन्त होगा और उनके फलका भी आदि और अन्त होगा। वे उन कर्मोंके फलस्वरूप ऊँचे-ऊँचे लोकोंमें भी चले जायँगे, तो भी वहाँसे उनको फिर जन्म-मरणमें आना ही पड़ेगा। इसलिये उन्होंने कर्म करके केवल अपना समय बरबाद किया, अपनी बुद्धि बरबाद की और मिला कुछ नहीं। अन्तमें रीते-के-रीते रह गये अर्थात् जिसके लिये मनुष्यशरीर मिला था, उस लाभसे सदा ही रीते रह गये। इसलिये उनके सब कर्म व्यर्थ, निष्फल ही हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि ये मनुष्य स्वरूपसे साक्षात् परमात्माके अंश हैं, सदा रहनेवाले हैं और कर्म तथा उनका फल आदि-अन्तवाला है; अतः जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक वे सकामभावपूर्वक कितने ही कर्म करें और उनका फल भोगें, पर अन्तमें दुःख और अशान्तिके सिवाय कुछ नहीं मिलेगा।

जो शास्त्रविहित कर्म अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करनेकी इच्छासे सकामभावपूर्वक किये जाते हैं, वे ही कर्म व्यर्थ होते हैं अर्थात् सत्-फल देनेवाले नहीं होते। परन्तु जो कर्म भगवान्के लिये, भगवान्की प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं और जो कर्म भगवान्के अर्पण किये जाते हैं, वे कर्म निष्फल नहीं होते अर्थात् नाशवान् फल देनेवाले नहीं होते, प्रत्युत सत्-फल देनेवाले हो जाते हैं—**‘कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते’** (गीता १७। २७)।

सत्रहवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें भी भगवान्ने कहा है कि जिनकी मेरेमें श्रद्धा नहीं है अर्थात् जो मेरेसे विमुख हैं, उनके द्वारा किये गये यज्ञ, दान, तप आदि सभी

कर्म असत् होते हैं अर्थात् मेरी प्राप्ति करानेवाले नहीं होते। उन कर्मोंका इस जन्ममें और मरनेके बाद भी (परलोकमें) स्थायी फल नहीं मिलता अर्थात् जो कुछ फल मिलता है, विनाशी ही मिलता है। इसलिये उनके वे सब कर्म व्यर्थ ही हैं।

**‘मोघज्ञानाः’**—उनके सब ज्ञान व्यर्थ हैं। भगवान्से विमुख होकर उन्होंने संसारकी सब भाषाएँ सीख लीं, सब लिपियाँ सीख लीं, तरह-तरहकी कलाएँ सीख लीं, तरह-तरहकी विद्याओंका ज्ञान प्राप्त कर लिया, कई तरहके आविष्कार कर लिये, अनन्त प्रकारके ज्ञान प्राप्त कर लिये, पर इससे उनका कल्याण नहीं होगा, जन्म-मरण नहीं छूटेगा। इसलिये वे सब ज्ञान निष्फल हैं। जैसे, हिसाब करते समय एक अंककी भी भूल हो जाय तो हिसाब कभी सही नहीं आता, सब गलत हो जाता है, ऐसे ही जो भगवान्से विमुख हो गये हैं, वे कुछ भी ज्ञान-सम्पादन करें, वह सब गलत होगा और पतनकी तरफ ही ले जायगा।

**‘विचेतसः’**—उनको सार-असार, नित्य-अनित्य, लाभ-हानि, कर्तव्य-अकर्तव्य, मुक्ति-बन्धन आदि बातोंका ज्ञान नहीं है।

**‘राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः’**—जो मनुष्य अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें, अपनी कामनापूर्ति करनेमें, अपने प्राणोंका पोषण करनेमें ही लगे रहते हैं, दूसरोंको कितना दुःख हो रहा है, दूसरोंका कितना नुकसान हो रहा है—इसकी परवाह ही नहीं करते, वे ‘आसुरी’ स्वभाववाले होते हैं।

जिनके स्वार्थमें, कामना-पूर्तिमें बाधा लग जाती है, उनको गुस्सा आ जाता है और गुस्सेमें आकर वे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरोंका नुकसान कर देते हैं, दूसरोंका नाश कर देते हैं, वे ‘राक्षसी’ स्वभाववाले होते हैं।

जिसमें अपना न स्वार्थ है, न परमार्थ है और न वैर है, फिर भी बिना किसी कारणके जो दूसरोंका नुकसान कर देते हैं, दूसरोंको कष्ट देते हैं (जैसे, उड़ते हुए पक्षीको गोली मार दी, सोते हुए कुत्तेको लाठी मार दी और फिर राजी हो गये), वे ‘मोहिनी’ स्वभाववाले होते हैं।

परमात्मासे विमुख होकर केवल अपने प्राणोंको रखनेकी अर्थात् सुखपूर्वक जीनेकी जो इच्छा होती है, वह आसुरी प्रकृति है। ऊपर जो तीन प्रकारकी प्रकृति (आसुरी, राक्षसी और मोहिनी) बतायी गयी है, उसके मूलमें आसुरी प्रकृति ही है अर्थात् आसुरी सम्पत्ति ही सबका मूल है। एक

आसुरी सम्पत्तिके आश्रित होनेपर राक्षसी और मोहिनी प्रकृति भी स्वाभाविक आ जाती है। कारण कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका ध्येय होनेसे सब अनर्थ-परम्परा आ ही जाती है। उसी आसुरी सम्पत्तिके तीन भेद यहाँ बताये गये हैं—कामनाकी प्रधानतावालोंकी 'आसुरी', क्रोधकी प्रधानतावालोंकी 'राक्षसी' और मोह-(मूढ़ता-) की प्रधानतावालोंकी 'मोहिनी' प्रकृति होती है। तात्पर्य है कि

कामनाकी प्रधानता होनेसे आसुरी प्रकृति आती है। जहाँ कामनाकी प्रधानता होती है, वहाँ राक्षसी प्रकृति—क्रोध आ ही जाता है—'कामात्क्रोधोऽभिजायते' (गीता २।६२) और जहाँ क्रोध आता है, वहाँ मोहिनी प्रकृति— मोह आ ही जाता है—'क्रोधाद्भवति सम्मोहः' (२।६३)। यह सम्मोह लोभसे भी होता है और मूर्खतासे भी होता है।

**परिशिष्ट भाव**—इस श्लोकमें आसुरी सम्पत्तिकी बात आयी है, जिसका फलसहित विस्तारसे वर्णन भगवान्ने सोलहवें अध्यायमें किया है। आसुरी सम्पत्तिका फल है—चौरासी लाख योनियोंकी तथा नरकोंकी प्राप्ति (गीता—सोलहवें अध्यायका उन्नीसवाँ-बीसवाँ श्लोक)। आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य जो फल चाहते हैं, वह तो उनको नहीं मिलता (मोघाशाः), पर अनिष्ट फल (दण्ड) तो उनको मिलता ही है। वे पाप तो करते हैं सुख पानेके लिये, पर सुख तो मिलता नहीं, दुःख जरूर पाना पड़ता है! वे करते तो हैं भगवान्की अवज्ञा, पर परिणाममें अपना ही नुकसान करते हैं, भगवान्में क्या फर्क पड़ा?

*सम्बन्ध*—चौथे श्लोकसे लेकर दसवें श्लोकतक भगवान्ने अपने प्रभाव, सामर्थ्य आदिका वर्णन किया। उस प्रभावको न माननेवालोंका वर्णन तो ग्यारहवें और बारहवें श्लोकमें कर दिया। अब उस प्रभावको जानकर भजन करनेवालोंका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

**महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।**

**भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥**

तु	= परन्तु	अनन्यमनसः	= अनन्यमनवाले	अव्ययम्	= (और)
पार्थ	= हे पृथानन्दन!	महात्मानः	= महात्मा लोग		अविनाशी
दैवीम्	= दैवी	माम्	= मुझे	ज्ञात्वा	= समझकर
प्रकृतिम्	= प्रकृतिके	भूतादिम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंका	भजन्ति	= (मेरा) भजन
आश्रिताः	= आश्रित		आदि		करते हैं।

*व्याख्या*—'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृति-माश्रिताः'—पूर्वश्लोकमें जिन आसुरी, राक्षसी और मोहिनी स्वभावके आश्रित मूढ़लोगोंका वर्णन किया था, उनसे दैवी-सम्पत्तिके आश्रित महात्माओंकी विलक्षणता बतानेके लिये ही यहाँ 'तु' पद आया है।

'दैवीं प्रकृतिम्'—अर्थात् दैवी सम्पत्तिमें 'देव' नाम परमात्माका है और परमात्माकी सम्पत्ति दैवी सम्पत्ति कहलाती है। परमात्मा 'सत्' हैं; अतः परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले जितने गुण और आचरण हैं, उनके साथ 'सत्' शब्द लगता है अर्थात् वे सद्गुण और सदाचार कहलाते हैं। जितने भी सद्गुण-सदाचार हैं, वे सब-के-सब भगवत्स्वरूप हैं अर्थात् वे सभी भगवान्के ही स्वभाव हैं और स्वभाव होनेसे ही उनको 'प्रकृति' कहा गया है। इसलिये दैवी प्रकृतिका आश्रय लेना भी भगवान्का ही आश्रय लेना है।

दैवी सम्पत्तिके जितने भी गुण हैं (गीता—सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक), वे सभी सामान्य गुण हैं और स्वतःसिद्ध हैं अर्थात् इन गुणोंपर सभी मनुष्योंका पूरा अधिकार है। अब कोई इन गुणोंका आश्रय ले या न ले—यह तो मनुष्योंपर निर्भर है; परन्तु जो इनका आश्रय लेकर परमात्माकी तरफ चलते हैं, वे अपना कल्याण कर लेते हैं।

एक खोज होती है और एक उत्पत्ति होती है। खोज नित्यतत्त्वकी होती है, जो कि पहलेसे ही है। जिस वस्तुकी उत्पत्ति होती है, वह नष्ट होनेवाली होती है। दैवी सम्पत्तिके जितने सद्गुण-सदाचार हैं, उनको भगवान्के और भगवत्-स्वरूप समझकर धारण करना, उनका आश्रय लेना 'खोज' है। कारण कि ये किसीके उत्पन्न किये हुए नहीं हैं अर्थात् ये किसीकी व्यक्तिगत उपज, बपौती नहीं हैं। जो इन गुणोंको अपने पुरुषार्थके द्वारा उपाजित मानता है अर्थात्

स्वाभाविक न मानकर अपने बनाये हुए मानता है, उसको इन गुणोंका अभिमान होता है। यह अभिमान ही वास्तवमें प्राणीकी व्यक्तिगत उपज है, जो नष्ट होनेवाली है।

जब मनुष्य दैवी गुणोंको अपने बलके द्वारा उपार्जित मानता है और 'मैं सत्य बोलता हूँ, दूसरे सत्य नहीं बोलते'—इस तरह दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता मानता है, तब उसमें इन गुणोंका अभिमान पैदा हो जाता है। परन्तु इन गुणोंको केवल भगवान्के ही गुण माननेसे और भगवत्स्वरूप समझकर इनका आश्रय लेनेसे अभिमान पैदा नहीं होता।

दैवी सम्पत्तिके अधूरेपनमें ही अभिमान पैदा होता है। दैवी सम्पत्तिके (अपनेमें) पूर्ण होनेपर अभिमान पैदा नहीं होता। जैसे, किसीको 'मैं सत्यवादी हूँ'—इसका अभिमान होता है, तो उसमें सत्यभाषणके साथ-साथ आंशिक असत्यभाषण भी है। अगर सर्वथा सत्यभाषण हो तो 'मैं सत्य बोलनेवाला हूँ'—इसका अभिमान नहीं हो सकता, प्रत्युत उसका यह भाव रहेगा कि 'मैं सत्यवादी हूँ तो मैं असत्य कैसे बोल सकता हूँ!'

मनुष्यमें दैवी सम्पत्ति तभी प्रकट होती है, जब उसका उद्देश्य केवल भगवत्प्राप्तिका हो जाता है। भगवत्प्राप्तिके लिये दैवी गुणोंका आश्रय लेकर ही वह परमात्माकी तरफ बढ़ सकता है। दैवी गुणोंका आश्रय लेनेसे उसमें अभिमान नहीं आता; प्रत्युत नम्रता, सरलता, निरभिमानता आती है और साधनमें नित्य नया उत्साह आता है।

जो मनुष्य भगवान्से विमुख होकर उत्पत्ति-विनाशशील भोगों और उनके संग्रहमें लगे हुए हैं, वे 'अल्पात्मा' हैं अर्थात् मूढ़ हैं; परन्तु जिन्होंने भगवान्का आश्रय लिया है, जिनकी मूढ़ता चली गयी है और जिन्होंने केवल प्रभुके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है, तो महान्के साथ सम्बन्ध जोड़नेसे, सत्य-तत्त्वकी तरफ ही लक्ष्य होनेसे वे 'महात्मा' हैं।

'भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्'—मैं सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि हूँ और अविनाशी हूँ। तात्पर्य है कि संसार उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समयमें मैं था और सब संसार लीन हो जायगा; उस समयमें भी मैं रहूँगा—ऐसा मैं अनादि-अनन्त हूँ। अनन्त ब्रह्माण्ड, अनन्त सृष्टियाँ, अनन्त स्थावर-जंगम प्राणी मेरेसे उत्पन्न होते हैं, मेरेमें ही स्थित रहते हैं, मेरे द्वारा ही पालित होते हैं और मेरेमें ही लीन होते हैं; परन्तु मैं ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता हूँ

अर्थात् मेरेमें कभी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती।

सांसारिक वस्तुओंका यह नियम है कि किसी वस्तुसे कोई चीज उत्पन्न होती है, तो उस वस्तुमें कमी आ जाती है; जैसे—मिट्टीसे घड़े पैदा होनेपर मिट्टीमें कमी आ जाती है; सोनेसे गहने पैदा होनेपर सोनेमें कमी आ जाती है, आदि। परन्तु मेरेसे अनन्त सृष्टियाँ पैदा होनेपर भी मेरेमें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती; क्योंकि मैं सबका अव्यय बीज हूँ (गीता—नवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। जिन मनुष्योंने मेरेको अनादि और अव्यय जान लिया है, वे अनन्य मनसे मेरा ही भजन करते हैं।

जो जिसके महत्त्वको जितना अधिक जानता है, वह उतना ही अधिक उसमें लग जाता है। जिन्होंने भगवान्को सर्वोपरि जान लिया है, वे भगवान्में ही लग जाते हैं। उनकी पहचानके लिये यहाँ 'अनन्यमनसः' पद आया है। उनका मन भगवान्में ही लीन हो जानेसे उनकी वृत्ति इस लोकके और परलोकके भोगोंकी तरफ कभी नहीं जाती। भोगोंमें उनकी महत्त्वबुद्धि नहीं रहती।

'अनन्य मनवाला' होनेका तात्पर्य है कि उनके मनमें अन्यका आश्रय नहीं है, सहारा नहीं है, भरोसा नहीं है, अन्य किसीमें आकर्षण नहीं है और केवल भगवान्में ही अपनापन है। इस प्रकार अनन्य मनसे वे भगवान्का भजन करते हैं।

भगवान्का भजन किसी तरहसे किया जाय, उससे लाभ ही होता है। परन्तु भगवान्के साथ अनन्य होकर 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं' ऐसा सम्बन्ध जोड़कर थोड़ा भी भजन किया जाय तो उससे बहुत लाभ होता है। कारण कि अपनेपनका सम्बन्ध (भावरूप होनेसे) नित्य-निरन्तर रहता है, जब कि क्रियाका सम्बन्ध नित्य-निरन्तर नहीं रहता, क्रिया छूटते ही उसका सम्बन्ध छूट जाता है। इसलिये सबके आदि और अविनाशी परमात्मा मेरे हैं और मैं उनका हूँ—ऐसा जिसने मान लिया है, वह अपने-आपको भगवान्के चरणोंमें अर्पित करके शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो कुछ भी शारीरिक, व्यावहारिक, लौकिक, वैदिक, पारमार्थिक कार्य करता है। वह सब भजनरूपसे प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही होता है—यही उसका अनन्य मनसे भजन करना है। इसका वर्णन गीतामें जगह-जगह हुआ है (जैसे, आठवें अध्यायका चौदहवाँ, नवें अध्यायका बाईसवाँ, बारहवें अध्यायका छठा और चौदहवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)।



**परिशिष्ट भाव**—पूर्वश्लोकमें पतनकी तरफ जानेवाले संसारी मनुष्योंका वर्णन करके अब उनसे विलक्षण भगवान्की तरफ जानेवाले मनुष्यों-(भक्तों-)का वर्णन करते हैं। 'दैवी प्रकृति' का अर्थ है—भगवान्का स्वभाव।

आसुरी प्रकृतिके आश्रित मनुष्य न तो भगवान्को मानते हैं और न उनकी आज्ञाको ही मानते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। परन्तु दैवी प्रकृतिके आश्रित मनुष्य भगवान्को भी मानते हैं और उनकी आज्ञाको भी मानते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)।

**'ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्'**—अनन्त ब्रह्माण्डोंके अविनाशी बीज भगवान् ही हैं (गीता—सातवें अध्यायका दसवाँ और नवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)—इस प्रकार दृढ़तापूर्वक मानना ही भगवान्को आदि और अविनाशी जानना है। दृढ़ मान्यता भी जाननेके समान होती है। भगवान् सबके आदि और अविनाशी हैं—इसका वर्णन इसी अध्यायके चौथे श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक हुआ है।

सम्बन्ध—पीछेके श्लोकमें भजन करनेवालोंका वर्णन करके अब भगवान् आगेके श्लोकमें उनके भजनका प्रकार बताते हैं।

**सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।**

**नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥**

<b>नित्ययुक्ताः</b>	= नित्य-निरन्तर (मुझमें) लगे हुए मनुष्य	<b>च</b>	= और	<b>माम्</b>	= मुझे
<b>दृढव्रताः</b>	= दृढव्रती होकर	<b>भक्त्या</b>	= प्रेमपूर्वक	<b>नमस्यन्तः</b>	= नमस्कार करते हुए
<b>यतन्तः</b>	= लगनपूर्वक	<b>कीर्तयन्तः</b>	= कीर्तन करते हुए	<b>सततम्</b>	= निरन्तर
		<b>च</b>	= तथा	<b>माम्</b>	= मेरी
				<b>उपासते</b>	= उपासना करते हैं।

**व्याख्या**—'नित्ययुक्ताः'—मात्र मनुष्य भगवान्में ही नित्ययुक्त रह सकते हैं, हरदम लगे रह सकते हैं, सांसारिक भोगों और संग्रहमें नहीं। कारण कि समय-समयपर भोगोंसे भी ग्लानि होती है और संग्रहसे भी उपरति होती है। परन्तु भगवान्की प्राप्ति, भगवान्की तरफ चलनेका जो एक उद्देश्य बनता है, एक दृढ़ विचार होता है, उसमें कभी भी फरक नहीं पड़ता।

भगवान्का अंश होनेसे जीवका भगवान्के साथ अखण्ड सम्बन्ध है। मनुष्य जबतक उस सम्बन्धको नहीं पहचानता, तभीतक वह भगवान्से विमुख रहता है, अपनेको भगवान्से अलग मानता है। परन्तु जब वह भगवान्के साथ अपने नित्य-सम्बन्धको पहचान लेता है, तो फिर वह भगवान्के सम्मुख हो जाता है, भगवान्से अलग नहीं रह सकता और उसको भगवान्के सम्बन्धकी विस्मृति भी नहीं होती—यही उसका 'नित्ययुक्त' रहना है।

मनुष्यका भगवान्के साथ 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—ऐसा जो स्वयंका सम्बन्ध है, वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन अवस्थाओंमें, एकान्तमें भजन-ध्यान करते हुए अथवा सेवारूपसे संसारके सब काम करते हुए भी कभी खण्डित नहीं होता, अटलरूपसे सदा ही बना रहता

है। जैसे मनुष्य अपनेको जिस माँ-बापका मान लेता है, सब काम करते हुए भी उसका 'मैं अमुकका लड़का हूँ' यह भाव सदा बना रहता है। उसको याद रहे चाहे न रहे, वह याद करे चाहे न करे, पर यह भाव हरदम रहता है; क्योंकि 'मैं अमुकका लड़का हूँ'—यह भाव उसके 'मैं'-पनमें बैठ गया है ऐसे ही जो 'अनादि, अविनाशी, सर्वोपरि भगवान् ही मेरे हैं और मैं उनका ही हूँ'—इस वास्तविकताको जान लेता है, मान लेता है, तो यह भाव हरदम बना रहता है। इस प्रकार भगवान्के साथ अपना वास्तविक सम्बन्ध मान लेना ही 'नित्ययुक्त' होना है।

**'दृढव्रताः'**—जो सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए हैं, वे जो पारमार्थिक निश्चय करते हैं, वह निश्चय दृढ़ नहीं होता (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। परन्तु जिन्होंने भीतरसे ही अपने मैं-पनको बदल दिया है कि 'हम भगवान्के हैं और भगवान् हमारे हैं', उनका यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि 'हम संसारके नहीं हैं और संसार हमारा नहीं है'; अतः हमें सांसारिक भोग और संग्रहकी तरफ कभी जाना ही नहीं है, प्रत्युत भगवान्के नाते केवल सेवा कर देनी है। इस प्रकार उनका निश्चय बहुत दृढ़ होता है। अपने निश्चयसे वे कभी विचलित नहीं

होते। कारण कि उनका उद्देश्य भगवान्का है और वे स्वयं भी भगवान्के अंश हैं। उनके निश्चयमें अदृढ़ता आनेका प्रश्न ही नहीं है। अदृढ़ता तो सांसारिक निश्चयमें आती है, जो कि टिकनेवाला नहीं है।

‘यतन्तश्च’—जैसे सांसारिक मनुष्य कुटुम्बका पालन करते हैं तो ममतापूर्वक करते हैं, रुपये कमाते हैं तो लोभपूर्वक कमाते हैं, ऐसे ही भगवान्के भक्त भगवत्प्राप्तिके लिये यत्न (साधन) करते हैं तो लगनपूर्वक ही करते हैं। उनके प्रयत्न सांसारिक दीखते हुए भी वास्तवमें सांसारिक नहीं होते; क्योंकि उनके प्रयत्नमात्रका उद्देश्य भगवान् ही होते हैं।

‘भक्त्या कीर्तयन्तो माम्’—वे भक्त प्रेमपूर्वक कभी भगवान्के नामका कीर्तन करते हैं, कभी नाम-जप करते हैं, कभी पाठ करते हैं, कभी नित्यकर्म करते हैं, कभी भगवत्-सम्बन्धी बातें सुनाते हैं; आदि-आदि। वे जो कुछ वाणी-सम्बन्धी क्रियाएँ करते हैं, वह सब भगवान्का स्तोत्र

परिशिष्ट भाव—भक्त जो कुछ कहता है, वह सब भगवान्का ही कीर्तन है। वह जो कुछ क्रिया करता है, वह सब भगवान्की ही सेवा है\* (गीता—नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)।

अनित्य संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके कारण भक्त नित्ययुक्त होते हैं।

सम्बन्ध—अनित्य संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके नित्य-तत्त्वकी तरफ चलनेवाले साधक कई प्रकारके होते हैं। उनमेंसे भक्तिके साधकोंका वर्णन पीछेके दो श्लोकोंमें कर दिया, अब दूसरे साधकोंका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

## ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

अन्ये	= दूसरे साधक	करते हैं	विराटरूपकी
ज्ञानयज्ञेन	= ज्ञानयज्ञके द्वारा	च = और	अर्थात् संसारको
एकत्वेन	= एकीभावसे (अभेदभावसे)	अपि = दूसरे भी कई साधक	मेरा विराटरूप
माम्	= मेरा	पृथक्त्वेन = (अपनेको) पृथक् मानकर	मानकर सेव्य- सेवकभावसे
यजन्तः	= पूजन करते हुए	विश्वतोमुखम् = चारों तरफ	बहुधा = (मेरी) अनेक प्रकारसे
उपासते	= मेरी उपासना	मुखवाले मेरे	(उपासना करते हैं)।

\* कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।

करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥ (श्रीमद्भा० ११।२।३६)

‘शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे अथवा अनुगत स्वभावसे मनुष्य जो-जो करे, वह सब परमपुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है, इस भावसे उन्हें समर्पित कर दे।’

संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो।

यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥ (शिवमानसपूजा)

‘हे शम्भो! मेरा चलना-फिरना आपकी परिक्रमा है तथा सम्पूर्ण शब्द आपके स्तोत्र हैं। मैं जो-जो भी कर्म करता हूँ, वह सब आपकी आराधना ही है।’

व्याख्या—[ जैसे, भूखे आदमियोंकी भूख एक होती है और भोजन करनेपर सबकी तृप्ति भी एक होती है; परन्तु उनकी भोजनके पदार्थोंमें रुचि भिन्न-भिन्न होती है। ऐसे ही परिवर्तनशील अनित्य संसारकी तरफ लगे हुए लोग कुछ भी करते हैं, पर उनकी तृप्ति नहीं होती, वे अभावग्रस्त ही रहते हैं। जब वे संसारसे विमुख होकर केवल परमात्माकी तरफ ही चलते हैं, तब परमात्माकी प्राप्ति होनेपर उन सबकी तृप्ति हो जाती है अर्थात् वे कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाते हैं। परन्तु उनकी रुचि, योग्यता, श्रद्धा, विश्वास आदि भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिये उनकी उपासनाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। ]

‘ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते एकत्वेन’— कई ज्ञानयोगी साधक ज्ञानयज्ञसे अर्थात् विवेकपूर्वक असत्का त्याग करते हुए सर्वत्र व्यापक परमात्मतत्त्वको और अपने वास्तविक स्वरूपको एक मानते हुए मेरे निर्गुण-निराकार स्वरूपकी उपासना करते हैं।

इस परिवर्तनशील संसारकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है;

परिशिष्ट भाव—सभी साधक अपनी रुचि, योग्यता और श्रद्धा-विश्वासके अनुसार अलग-अलग साधनोंसे जिसकी भी उपासना करते हैं, वह भगवान्के समग्ररूपकी ही उपासना होती है। आगे सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक इसी समग्ररूपका वर्णन हुआ है।

क्योंकि यह संसार पहले अभावरूपसे था और अब भी अभावमें जा रहा है। अतः यह अभावरूप ही है। जिससे संसार उत्पन्न हुआ है, जिसके आश्रित है और जिससे प्रकाशित होता है, उस परमात्माकी सत्तासे ही इसकी सत्ता प्रतीत हो रही है। उस परमात्माके साथ हमारी एकता है— इस प्रकार उस परमात्माकी तरफ नित्य-निरन्तर दृष्टि रखना ही एकीभावसे उपासना करना है।

यहाँ ‘यजन्तः’ पदका तात्पर्य है कि उनके भीतर केवल परमात्मतत्त्वका ही आदर है—यही उनका पूजन है।

‘पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्’—ऐसे ही कई कर्मयोगी साधक अपनेको सेवक मानकर और मात्र संसारको भगवान्का विराटरूप मानकर अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी सम्पूर्ण क्रियाओंको तथा पदार्थोंको संसारकी सेवामें ही लगा देते हैं। इन सबको सुख कैसे हो, सबका दुःख कैसे मिटे, इनकी सेवा कैसे बने—ऐसी विचारधारासे वे अपने तन, मन, धन आदिसे जनता-जनार्दनकी सेवामें ही लगे रहते हैं, भगवत्कृपासे उनको पूर्णताकी प्राप्ति हो जाती है।

सम्बन्ध—जब सभी उपासनाएँ अलग-अलग हैं, तो फिर सभी उपासनाएँ आपकी कैसे हुई? इसपर आगेके चार श्लोक कहते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।  
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥  
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।  
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥  
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।  
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

क्रतुः = क्रतु  
अहम् = मैं हूँ,  
यज्ञः = यज्ञ  
अहम् = मैं हूँ,  
स्वधा = स्वधा  
अहम् = मैं हूँ,  
औषधम् = औषध  
अहम् = मैं हूँ,  
मन्त्रः = मन्त्र

अहम् = मैं हूँ,  
आज्यम् = घृत  
अहम् = मैं हूँ,  
अग्निः = अग्नि  
अहम् = मैं हूँ (और)  
हुतम् = हवनरूप क्रिया  
एव = भी  
अहम् = मैं हूँ।  
वेद्यम् = जाननेयोग्य

पवित्रम् = पवित्र  
ओङ्कारः = ओंकार,  
ऋक् = ऋग्वेद,  
साम = सामवेद  
च = और  
यजुः = यजुर्वेद  
एव = भी  
अहम् = मैं ही हूँ।  
अस्य = इस

जगतः	= सम्पूर्ण जगत्का	भर्ता	= भर्ता,	प्रभवः	= उत्पत्ति,
पिता	= पिता,	प्रभुः	= प्रभु,	प्रलयः	= प्रलय,
धाता	= धाता,	साक्षी	= साक्षी,	स्थानम्	= स्थान,
माता	= माता,	निवासः	= निवास,	निधानम्	= निधान ( भण्डार )
पितामहः	= पितामह,	शरणम्	= आश्रय,	अव्ययम्	= ( तथा ) अविनाशी
गतिः	= गति,	सुहृत्	= सुहृद्,	बीजम्	= बीज ( भी मैं ही हूँ ) ।

व्याख्या—[ सातवें अध्यायसे बारहवें अध्यायतकके इस मध्यम षट्कमें भगवान्ने अपनी भक्तिका ( उपासनाका ) वर्णन किया है और उसमें 'अस्मत्' अर्थात् 'अहम्', 'मम', 'मया', 'मत्' आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। यहाँ सोलहवें श्लोकमें तो 'अस्मत्' अर्थात् 'अहम्' शब्दका प्रयोग आठ बार किया गया है। 'अहम्' शब्दका इतना अधिक प्रयोग इस षट्कके दूसरे किसी भी श्लोकमें नहीं किया गया है।

अपनी रुचि, श्रद्धा-विश्वासके अनुसार किसीको भी साक्षात् परमात्माका स्वरूप मानकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ा जाय तो वास्तवमें यह सम्बन्ध सत्के साथ ही है। केवल अपने मन-बुद्धिमें किंचिन्मात्र भी संदेह न हो। जैसे ज्ञानके द्वारा मनुष्य सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें एक परमात्मतत्त्वको ही जानता है। परमात्माके सिवाय दूसरी किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया आदिकी किंचिन्मात्र भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—इसमें उसको किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं होता। ऐसे ही भगवान् विराटरूपसे अनेक रूपोंमें प्रकट हो रहे हैं; अतः सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं—इसमें अपनेको किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं होना चाहिये। कारण कि 'यह सब भगवान् कैसे हो सकते हैं?' यह संदेह साधकको वास्तविक तत्त्वसे, मुक्तिसे वंचित कर देता है और महान् आफतमें फँसा देता है। अतः यह बात दृढ़तासे मान लें कि कार्य-कारणरूपसे स्थूल-सूक्ष्मरूप जो कुछ देखने, सुनने, समझने और माननेमें आता है, वह सब केवल भगवान् ही हैं। इसी कार्य-कारणरूपसे भगवान्की सर्वव्यापकताका वर्णन सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक किया गया है।]

'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्'—जो वैदिक रीतिसे किया जाय, वह 'क्रतु' होता है। वह क्रतु मैं ही हूँ। जो स्मार्त (पौराणिक) रीतिसे किया जाय, वह 'यज्ञ' होता है, जिसको पंचमहायज्ञ आदि स्मार्त-कर्म कहते हैं। वह यज्ञ मैं हूँ। पितरोंके लिये जो अन्न अर्पण किया जाता है, उसको स्वधा कहते हैं। वह स्वधा मैं ही हूँ। उन क्रतु,

यज्ञ और स्वधाके लिये आवश्यक जो शाकल्य है अर्थात् वनस्पतियाँ हैं, बूटियाँ हैं, तिल, जौ, छुहारा आदि औषध है, वह औषध भी मैं ही हूँ।

'मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्'—जिस मन्त्रसे क्रतु, यज्ञ और स्वधा किये जाते हैं, वह मन्त्र भी मैं ही हूँ। यज्ञ आदिके लिये गो-घृत आवश्यक होता है, वह घृत भी मैं ही हूँ। जिस आहवनीय अग्निमें होम किया जाता है, वह अग्नि भी मैं ही हूँ और हवन करनेकी क्रिया भी मैं ही हूँ।

'वेद्यं पवित्रमोकार ऋक्साम यजुरेव च'—वेदोंकी बतायी हुई जो विधि है, उसको ठीक तरहसे जानना 'वेद्य' है। तात्पर्य है कि कामनापूर्तिके लिये अथवा कामना-निवृत्तिके लिये वैदिक और शास्त्रीय जो कुछ क्रतु, यज्ञ आदिका अनुष्ठान किया जाता है, वह विधि-विधान-सहित सांगोपांग होना चाहिये। अतः विधि-विधानको जाननेयोग्य सब बातें 'वेद्य' कहलाती हैं। वह वेद्य मेरा स्वरूप है।

यज्ञ, दान और तप—ये तीनों निष्काम पुरुषोंको महान् पवित्र करनेवाले हैं—'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (१८।५)। इनमें निष्कामभावसे जो हव्य आदि वस्तुएँ खर्च होती हैं, वे भी पवित्र हो जाती हैं और इनमें निष्कामभावसे जो क्रिया की जाती है, वह भी पवित्र हो जाती है। यह पवित्रता मेरा स्वरूप है।

क्रतु, यज्ञ आदिका अनुष्ठान करनेके लिये जिन ऋचाओंका उच्चारण किया है, उन सबमें सबसे पहले 'ॐ' का ही उच्चारण किया जाता है। इसका उच्चारण करनेसे ही ऋचाएँ अभीष्ट फल देती हैं। वेदवादियोंकी यज्ञ, दान, तप आदि सभी क्रियाएँ 'ॐ' का उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं (गीता—सत्रहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। वैदिकोंके लिये प्रणवका उच्चारण मुख्य है। इसलिये भगवान्ने प्रणवको अपना स्वरूप बताया है।

उन क्रतु, यज्ञ आदिकी विधि बतानेवाले ऋग्वेद,

सामवेद और यजुर्वेद—ये तीनों वेद हैं। जिसमें नियताक्षरवाले मन्त्रोंकी ऋचाएँ होती हैं, उन ऋचाओंके समुदायको 'ऋग्वेद' कहते हैं। जिसमें स्वरोंसहित गानेमें आनेवाले मन्त्र होते हैं, वे सब मन्त्र 'सामवेद' कहलाते हैं। जिसमें अनियताक्षरवाले मन्त्र होते हैं, वे मन्त्र 'यजुर्वेद' कहलाते हैं।<sup>१</sup> ये तीनों वेद भगवान्‌के ही स्वरूप हैं।

'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः'—इस जड-चेतन, स्थावर-जंगम आदि सम्पूर्ण संसारको मैं ही उत्पन्न करता हूँ—'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः' (गीता ७। ६) और बार-बार अवतार लेकर मैं ही इसकी रक्षा करता हूँ। इसलिये मैं 'पिता' हूँ। ग्यारहवें अध्यायके तैत्तलीसवें श्लोकमें अर्जुनने भी कहा है कि 'आप ही इस चराचर जगत्के पिता हैं'—'पितासि लोकस्य चराचरस्य'।

इस संसारको सब तरहसे मैं ही धारण करता हूँ और संसारमात्रका जो कुछ विधान बनता है, उस विधानको बनानेवाला भी मैं हूँ। इसलिये मैं 'धाता' हूँ।

जीवोंकी अपने-अपने कर्मोंके अनुसार जिस-जिस योनियोंमें, जैसे-जैसे शरीरोंकी आवश्यकता पड़ती है, उस-उस योनियोंमें वैसे-वैसे शरीरोंको पैदा करनेवाली 'माता' मैं हूँ अर्थात् मैं सम्पूर्ण जगत्की माता हूँ।

प्रसिद्धिमें ब्रह्माजी सम्पूर्ण सृष्टिको पैदा करनेवाले हैं—इस दृष्टिसे ब्रह्माजी प्रजाके पिता हैं। वे ब्रह्माजी भी मेरेसे प्रकट होते हैं—इस दृष्टिसे मैं ब्रह्माजीका पिता और प्रजाका 'पितामह' हूँ। अर्जुनने भी भगवान्‌को ब्रह्माके आदिकर्ता कहा है—'ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे' (११। ३७)।

**परिशिष्ट भाव**—जैसे ज्ञानकी दृष्टिसे गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गीता ३। २८), ऐसे ही भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्‌की वस्तु ही भगवान्‌के अर्पित हो रही है। जैसे कोई गंगाजलसे गंगाका पूजन करे, दीपकसे सूर्यका पूजन करे, पुष्पोंसे पृथ्वीका पूजन करे, ऐसे ही भगवान्‌की वस्तुसे भगवान्‌का ही पूजन हो रहा है! वास्तवमें देखा जाय तो पूज्य भी भगवान् हैं, पूजाकी सामग्री भी भगवान् हैं, पूजा भी भगवान् हैं तथा पूजक भी भगवान् हैं!

लौकिक बीज तो खेतीसे पैदा होनेवाला होता है, पर भगवान्‌रूपी अलौकिक बीज पैदा होनेवाला नहीं है, इसलिये

१-जिन मन्त्रोंमें अस्त्र-शस्त्र, भवन आदिका निर्माण करनेवाली लौकिक विद्याओंका वर्णन है, वे सब मन्त्र 'अथर्ववेद' कहलाते हैं। यद्यपि अनुसमुच्चयार्थ 'च' अव्ययसे अथर्ववेदका ग्रहण किया जा सकता है, तथापि उसमें लौकिक विद्याओंका वर्णन होनेसे क्रतु, यज्ञ आदिके अनुष्ठानमें उसका नाम नहीं लिया गया है। इसी कारणसे आगे बीसवें-इक्कीसवें श्लोकोंमें आये 'त्रैविद्याः' और 'त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः' पदोंमें भी ऋक्, साम, यजुः—इन तीनोंका ही संकेत किया गया है।

२-महासर्ग अवस्थामें सम्पूर्ण प्राणी जिसमें रहते हैं, वह 'निवास' है और महाप्रलय-अवस्थामें प्रकृतिसहित सारा संसार जिसमें रहता है, वह 'स्थान' है। यही निवास और स्थानमें अन्तर है।

'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्'—प्राणियोंके लिये जो सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है, वह 'गति'-स्वरूप में ही हूँ। संसारमात्रका भरण-पोषण करनेवाला 'भर्ता' और संसारका मालिक 'प्रभु' मैं ही हूँ। सब समयमें सबको ठीक तरहसे जाननेवाला 'साक्षी' मैं हूँ। मेरे ही अंश होनेसे सभी जीव स्वरूपसे नित्य-निरन्तर मेरेमें ही रहते हैं, इसलिये उन सबका 'निवास'-स्थान मैं ही हूँ। जिसका आश्रय लिया जाता है, वह 'शरण' अर्थात् शरणागतवत्सल मैं ही हूँ। बिना कारण प्राणिमात्रका हित करनेवाला 'सुहृद्' अर्थात् हितैषी भी मैं हूँ।

'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्'—सम्पूर्ण संसार मेरेसे ही उत्पन्न होता है और मेरेमें ही लीन होता है, इसलिये मैं 'प्रभव' और 'प्रलय' हूँ अर्थात् मैं ही संसारका निमित्तकारण और उपादानकारण हूँ (गीता—सातवें अध्यायका छठा श्लोक)।

महाप्रलय होनेपर प्रकृतिसहित सारा संसार मेरेमें ही रहता है, इसलिये मैं संसारका 'स्थान'<sup>२</sup> हूँ।

संसारकी चाहे सर्ग-अवस्था हो, चाहे प्रलय-अवस्था हो, इन सब अवस्थाओंमें प्रकृति, संसार, जीव तथा जो कुछ देखने, सुनने, समझनेमें आता है, वह सब-का-सब मेरेमें ही रहता है, इसलिये मैं 'निधान' हूँ।

सांसारिक बीज तो वृक्षसे पैदा होता है और वृक्षको पैदा करके नष्ट हो जाता है; परन्तु ये दोनों ही दोष मेरेमें नहीं हैं। मैं अनादि हूँ अर्थात् पैदा होनेवाला नहीं हूँ और अनन्त सृष्टियाँ पैदा करके भी जैसा-का-तैसा ही रहता हूँ। इसलिये मैं 'अव्यय बीज' हूँ।

भगवान्ने सातवें अध्यायमें अपनेको 'सनातन बीज' बताया—'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्' (७।१०)। अब यहाँ भगवान् अपनेको 'अव्यय बीज' बताते हैं—'बीजमव्ययम्'। कारण कि लौकिक बीज तो अंकुर पैदा करके नष्ट हो जाता है, पर भगवान् रूपी अलौकिक बीज अनन्त ब्रह्माण्ड पैदा करके भी ज्यों-का-त्यों रहता है, उसमें किंचिन्मात्र भी विकार नहीं होता। तात्पर्य है कि भगवान् सम्पूर्ण जगत्के आदिमें भी रहते हैं और अन्तमें भी रहते हैं। जो आदि और अन्तमें रहता है, वही मध्य-(वर्तमान-) में भी रहता है— यह सिद्धान्त है। जैसे अनेक तरहकी चीजें मिट्टीसे पैदा होती हैं, मिट्टीमें ही रहती हैं और अन्तमें मिट्टीमें ही मिल जाती हैं। ऐसे ही संसारमात्रके जितने भी बीज हैं, वे सब भगवान्से ही पैदा होते हैं, भगवान्में ही रहते हैं और अन्तमें भगवान्में ही लीन हो जाते हैं (गीता—दसवें अध्यायका उनतालीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि सांसारिक बीज तो उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर भगवान् रूपी अविनाशी बीज आदि, मध्य और अन्तमें ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः वर्तमानमें संसाररूपसे भगवान् ही हैं। भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है।

## तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च। अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ ११ ॥

अर्जुन	= हे अर्जुन! (संसारके हितके लिये)	च	= और (फिर उस जलको)	च	= और
अहम्	= मैं (ही)	वर्षम्	= (मैं ही) वर्षारूपसे	मृत्युः	= मृत्यु
तपामि	= सूर्यरूपसे तपता हूँ,	उत्सृजामि	= बरसा देता हूँ। (और तो क्या कहूँ)	च	= तथा
अहम्	= मैं (ही)	अमृतम्	= अमृत	सत्	= सत्
निगृह्णामि	= जलको ग्रहण			च	= और
				असत्	= असत् (भी)
				अहम्, एव	= मैं ही हूँ।

व्याख्या—'तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च'—पृथ्वीपर जो कुछ अशुद्ध, गंदी चीजें हैं, जिनसे रोग पैदा होते हैं, उनका शोषण करके प्राणियोंको नीरोग करनेके लिये\* अर्थात् ओषधियों, जड़ी-बूटियोंमें जो जहरीला भाग है, उसका शोषण करनेके लिये और पृथ्वीका जो जलीय भाग है, जिससे अपवित्रता होती है, उसको सुखानेके लिये मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ। सूर्यरूपसे उन सबके जलीय भागको ग्रहण करके और उस जलको शुद्ध तथा मीठा बना करके समय आनेपर वर्षारूपसे प्राणिमात्रके हितके लिये बरसा देता हूँ, जिससे प्राणिमात्रका जीवन चलता है।

'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'—मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ अर्थात् मात्र जीवोंका प्राण धारण करते हुए जीवित रहना (न मरना) और सम्पूर्ण जीवोंके

पिण्डप्राणोंका वियोग होना (मरना) भी मैं ही हूँ।

और तो क्या कहूँ, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, कारण-कार्यरूपसे जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ। तात्पर्य है कि जैसे महात्माकी दृष्टिमें सब कुछ वासुदेव (भगवत्स्वरूप) ही है—'वासुदेवः सर्वम्', ऐसे ही भगवान्की दृष्टिमें सत्-असत्, कारण-कार्य सब कुछ भगवान् ही हैं। परन्तु सांसारिक लोगोंकी दृष्टिमें सब एक-दूसरेसे विरुद्ध दीखते हैं; जैसे—जीना और मरना अलग-अलग दीखता है, उत्पत्ति और विनाश अलग-अलग दीखता है, स्थूल और सूक्ष्म अलग-अलग दीखते हैं, सत्त्व-रज-तम—ये तीनों अलग-अलग दीखते हैं, कारण और कार्य अलग-अलग दीखते हैं, जल और बर्फ अलग-अलग दीखते हैं। परन्तु वास्तवमें संसाररूपमें भगवान् ही प्रकट होनेसे, भगवान् ही बने हुए होनेसे सब

\* नीरोगता सूर्यसे ही होती है—'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्।' (लौगाक्षिस्मृति)

कुछ भगवत्स्वरूप ही है। भगवान्के सिवाय उसकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। जैसे सूतसे बने हुए सब कपड़ोंमें केवल सूत-ही-सूत है, ऐसे ही वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ आदि सब कुछ केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं।

**परिशिष्ट भाव**—सृष्टिसे पहले भी परमात्मा थे और अन्तमें भी परमात्मा रहेंगे, फिर बीचमें दूसरा कहाँसे आया? इसलिये अमृत भी भगवान्का स्वरूप है और मृत्यु भी भगवान्का स्वरूप है। सत् (परा प्रकृति) भी भगवान्का स्वरूप है और असत् (अपरा प्रकृति) भी भगवान्का स्वरूप है। जैसे अन्नकूटके प्रसादमें रसगुल्ले, गुलाबजामुन आदि भी होते हैं और मेथी, करेला आदिका साग भी होता है अर्थात् मीठा भी भगवान्का प्रसाद होता है और कड़वा भी भगवान्का प्रसाद होता है। ऐसे ही जो हमारे मनको सुहाये, वह भी भगवान्का स्वरूप है और जो नहीं सुहाये, वह भी भगवान्का स्वरूप है। सूर्यरूपसे जलको ग्रहण करना और फिर उसको बरसा देना—ये दोनों विपरीत कार्य (ग्रहण और त्याग) भी भगवान् करते हैं। इतना ही नहीं, जलरूपसे ग्रहण किये जानेवाले भी भगवान् हैं, बरसनेवाले भी भगवान् हैं और वर्षारूप क्रिया भी भगवान् हैं!

**‘सदसच्चाहमर्जुन’**—संसारमें सत् (परा) और असत्-(अपरा-) के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। संसार असत् है और उसमें रहनेवाला परमात्मतत्त्व सत् है। शरीर असत् है और उसमें रहनेवाला जीवात्मा सत् है। शरीर और संसार परिवर्तनशील हैं, जीवात्मा और परमात्मा अपरिवर्तनशील हैं। शरीर और संसार नाशवान् हैं, जीवात्मा और परमात्मा अविनाशी हैं (गीता—दूसरे अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। भगवान् कहते हैं कि परिवर्तनशील भी मैं हूँ और अपरिवर्तनशील भी मैं हूँ, नाशवान् भी मैं हूँ और अविनाशी भी मैं हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं। भगवान्के सिवाय और कुछ भी नहीं है (गीता—सातवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

**‘नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः’**—इसमें तो विवेक है, पर **‘सदसच्चाहम्’**—इसमें विवेक नहीं है, प्रत्युत विश्वास है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह विश्वास विवेकसे भी तेज है। कारण कि विवेक वहीं काम करता है, जहाँ सत् और असत् दोनोंका विचार होता है। जब असत् है ही नहीं तो फिर विवेक क्या करे? असत्को मानें तो विवेक है और असत्को न मानें तो विश्वास है। विवेकमें सत्-असत्का विभाग है, पर विश्वासमें विभाग है ही नहीं। विश्वासमें केवल सत्-ही-सत् अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं।

ज्ञानमार्गमें विवेककी और भक्तिमार्गमें विश्वास तथा प्रेमकी मुख्यता है। ज्ञानमार्गमें सत्-असत्, जड़-चेतन, नित्य-अनित्य आदिका विवेक मुख्य होनेसे इसमें ‘द्वैत’ है, पर भक्तिमार्गमें एक भगवान्का ही विश्वास मुख्य होनेसे इसमें ‘अद्वैत’ है। तात्पर्य है कि दो सत्ता न होनेसे वास्तविक अद्वैत भक्तिमें ही है।

ज्ञानमार्गमें साधक असत्का निषेध करता है। निषेध करनेसे असत्की सत्ताका भाव बना रह सकता है। साधक असत्के निषेधपर जितना जोर लगाता है, उतना ही असत्की सत्ताका भाव दृढ़ होता है। अतः असत्का निषेध करना उतना बढ़िया नहीं है, जितना उसकी उपेक्षा करना बढ़िया है। उपेक्षा करनेकी अपेक्षा भी ‘सब कुछ परमात्मा ही हैं’—यह भाव और भी बढ़िया है। अतः भक्त न असत्को हटाता है, न असत्की उपेक्षा करता है प्रत्युत सत्-असत् सबमें परमात्माका ही दर्शन करता है; क्योंकि वास्तवमें सब कुछ परमात्मा ही हैं। भगवान् कहते हैं—

**अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्। पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥**

(श्रीमद्भा० २। १। ३२)

‘सृष्टिसे पहले भी मैं ही विद्यमान था, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं था और सृष्टि उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह संसार दीखता है, वह भी मैं ही हूँ। सत्, असत् तथा सत्-असत्से परे जो कुछ हो सकता है, वह भी मैं ही हूँ। सृष्टिके सिवाय भी जो कुछ है, वह मैं ही हूँ और सृष्टिका नाश होनेपर जो शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ।’

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, अहम् आदि सब कुछ भगवान् ही हैं। जैसे हम मनसे हरिद्वारका चिन्तन करें तो हरिकी पैड़ी, घंटाघर आदि स्थावर भी मन ही बनता है और गंगाजी तथा उसमें तैरती हुई मछलियाँ, स्नान करते हुए मनुष्य आदि जंगम भी मन ही बनता है अर्थात् स्थावर भी मन ही हुआ और जंगम भी मन ही हुआ। इसी तरह सत् भी भगवान्

हैं और असत् भी भगवान् हैं।

सत् और असत्—ये दो विभाग हमारी दृष्टिमें हैं, तभी भगवान् हमें समझानेके लिये कहते हैं—‘सदसच्चाहम्’। भगवान्की दृष्टिमें तो एक उनके सिवाय कुछ नहीं है। ऊँची-से-ऊँची दार्शनिक दृष्टिसे भी देखें तो सत्ता एक ही है। दो सत्ता हो ही नहीं सकती। दूसरी सत्ता माननेसे ही मोह होता है (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। राग-द्वेष भी दूसरी सत्ता माननेसे ही होते हैं।

सम्बन्ध—जगत्की रचना तथा विविध परिवर्तन मेरी अध्यक्षतामें ही होता है; परन्तु मेरे इस प्रभावको न जाननेवाले मूढ़लोग आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेकर मेरी अवहेलना करते हैं, इसलिये वे पतनकी ओर जाते हैं। जो भक्त मेरे प्रभावको जानते हैं, वे मेरे दैवी गुणोंका आश्रय लेकर अनन्यमनसे मेरी विविध प्रकारसे उपासना करते हैं, इसलिये उनको सत्-असत् सब कुछ एक परमात्मा ही हैं—ऐसा यथार्थ अनुभव हो जाता है। परन्तु जिनके अन्तःकरणमें सांसारिक भोग और संग्रहकी कामना होती है, वे वास्तविक तत्त्वको न जानकर भगवान्से विमुख होकर स्वर्गादि लोकोंके भोगोंकी प्राप्तिके लिये सकामभावपूर्वक यज्ञादि अनुष्ठान किया करते हैं, इसलिये वे आवागमनको प्राप्त होते हैं—इसका वर्णन भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा-  
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-

मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

त्रैविद्या	= तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम अनुष्ठान-को करनेवाले (और)	यज्ञैः	= यज्ञोंके द्वारा	सुरेन्द्रलोकम्	= इन्द्रलोकको
सोमपाः	= सोमरसको पीनेवाले	माम्	= (इन्द्ररूपसे) मेरा	आसाद्य	= प्राप्त करके
पूतपापाः	= (जो) पापरहित मनुष्य	इष्ट्वा	= पूजन करके	दिवि	= (वहाँ) स्वर्गके
		स्वर्गतिम्	= स्वर्ग-प्राप्तिकी	दिव्यान्,	
		प्रार्थयन्ते	= प्रार्थना करते हैं,	देवभोगान्	= देवताओंके दिव्य भोगोंको
		ते	= वे (पुण्योंके फलस्वरूप)	अश्नन्ति	= भोगते हैं।
		पुण्यम्	= पवित्र		

व्याख्या—‘त्रैविद्याः मां सोमपाः.....दिव्यान्दिवि देवभोगान्’—संसारके मनुष्य प्रायः यहाँके भोगोंमें ही लगे रहते हैं। उनमें भी जो विशेष बुद्धिमान् कहलाते हैं, उनके हृदयमें भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व रहनेके कारण जब वे ऋक्, साम और यजुः—इन तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका तथा उनके फलका वर्णन सुनते हैं, तब वे (वेदोंमें आस्तिकभाव होनेके कारण) यहाँके भोगोंकी इतनी परवाह न करके स्वर्गके भोगोंके लिये ललचा उठते हैं और स्वर्गप्राप्तिके लिये वेदोंमें कहे हुए यज्ञोंके अनुष्ठानमें लग जाते हैं। ऐसे मनुष्योंके लिये

ही यहाँ ‘त्रैविद्याः’ पद आया है।

सोमलता अथवा सोमवल्ली नामकी एक लता होती है। उसके विषयमें शास्त्रमें आता है कि जैसे शुक्लपक्षमें प्रतिदिन चन्द्रमाकी एक-एक कला बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमाको कलाएँ पूर्ण हो जाती हैं और कृष्णपक्षमें प्रतिदिन एक-एक कला क्षीण होते-होते अमावस्याको कलाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं, ऐसे ही उस सोमलताका भी शुक्लपक्षमें प्रतिदिन एक-एक पत्ता निकलते-निकलते पूर्णिमातक पंद्रह पत्ते निकल आते हैं और कृष्णपक्षमें प्रतिदिन एक-एक पत्ता गिरते-गिरते अमावस्यातक पूरे पत्ते गिर जाते हैं।\* उस सोमलताके

\* पंचांगयुक्पंचदशच्छदाद्या सर्पाकृतिः शोणितपर्वदेशा। सा सोमवल्ली रसबन्धकर्म करोति एकादिवसोपनीता ॥ करोति सोमवृक्षोऽपि रसबन्धवधादिकम्। पूर्णिमादिवसानीतस्तयोर्वल्ली गुणाधिका ॥ कृष्णे पक्षे प्रगलति दलं प्रत्यहं चैकमेकं शुक्लेऽप्येकं प्रभवति पुनर्लम्बमाना लताः स्युः। तस्याः कन्दः कलयतितरां पूर्णिमायां गृहीतो बद्ध्वा सूतं कनकसहितं देहलोहं विधत्ते ॥



रसको सोमरस कहते हैं। यज्ञ करनेवाले उस सोमरसको वैदिक मन्त्रोंके द्वारा अभिमन्त्रित करके पीते हैं, इसलिये उनको 'सोमपाः' कहा गया है।

वेदोंमें वर्णित यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले और वेदमन्त्रोंसे अभिमन्त्रित सोमरसको पीनेवाले मनुष्योंके स्वर्गके प्रतिबन्धक पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिये उनको 'पूतपापाः' कहा गया है।

भगवान्ने पूर्वश्लोकमें कहा है कि सत्-असत् सब कुछ मैं ही हूँ, तो इन्द्र भी भगवत्स्वरूप ही हुए। अतः यहाँ 'माम्' पदसे इन्द्रको ही लेना चाहिये; क्योंकि सकाम यज्ञका अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे स्वर्गके अधिपति इन्द्रका ही पूजन करते हैं और इन्द्रसे ही

स्वर्ग-प्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं।

स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे स्वर्गके अधिपति इन्द्रकी स्तुति करना और उस इन्द्रसे स्वर्गलोककी याचना करना—इन दोनोंका नाम 'प्रार्थना' है। वैदिक और पौराणिक विधि-विधानसे किये गये सकाम यज्ञोंके द्वारा इन्द्रका पूजन करने और प्रार्थना करनेके फलस्वरूप वे लोग स्वर्गमें जाकर देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं। वे दिव्य भोग मनुष्यलोकके भोगोंकी अपेक्षा बहुत विलक्षण हैं। वहाँ वे दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—इन पाँचों विषयोंका भोग (अनुभव) करते हैं। इनके सिवाय दिव्य नन्दनवन आदिमें घूमना, सुख-आराम लेना, आदर-सत्कार पाना, महिमा पाना आदि भोगोंको भी भोगते हैं।

**परिशिष्ट भाव**—यहाँ ऐसे मनुष्योंका वर्णन हुआ है, जिनके भीतर संसारकी सत्ता और महत्ता बैठी हुई है और जो भगवान्की अविधिपूर्वक उपासना करनेवाले हैं (गीता—नवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। ऐसी मनुष्योंकी उपासनाका फल नाशवान् ही होता है (गीता—सातवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

समग्ररूपके अन्तर्गत होनेसे सब भगवान् ही हैं, इसलिये यहाँ इन्द्रके लिये भी 'माम्' पद आया है। मनुष्यलोककी अपेक्षा पवित्र होनेसे इन्द्रलोकके लिये 'पुण्यम्' पद आया है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं

त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना-

गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

ते	= वे	पुण्ये	= पुण्य	हुए सकाम धर्मका
तम्	= उस	क्षीणे	= क्षीण होनेपर	अनुप्रपन्नाः = आश्रय लिये हुए
विशालम्	= विशाल	मर्त्यलोकम्	= मृत्युलोकमें	कामकामाः = भोगोंकी कामना
स्वर्गलोकम्	= स्वर्गलोकके	विशन्ति	= आ जाते हैं।	करनेवाले मनुष्य
	(भोगोंको)	एवम्	= इस प्रकार	गतागतम् = आवागमनको
भुक्त्वा	= भोगकर	त्रयीधर्मम्	= तीनों वेदोंमें कहे	लभन्ते = प्राप्त होते हैं।

इयं सोमकला नाम वल्ली परमदुर्लभा। अनया बद्धसूतेन्द्रो लक्षवेधी प्रजायते ॥

( रसेन्द्रचूडामणि ६। ६—९ )

'जिसके पन्द्रह पत्ते होते हैं, जिसकी आकृति सर्पकी तरह होती है, जहाँसे पत्ते निकलते हैं—वे गाँठें जिसकी लाल होती हैं, ऐसी वह पूर्णिमाके दिन लायी हुई पंचांग-( मूल, डण्डी, पत्ते, फूल और फल- ) से युक्त सोमवल्ली पारदको बद्ध कर देती है। पूर्णिमाके दिन लाया हुआ पंचांग-( मूल, छाल, पत्ते, फूल और फल- ) से युक्त सोमवृक्ष भी पारदको बाँधना, पारदकी भस्म बनाना आदि कार्य कर देता है। परन्तु सोमवल्ली और सोमवृक्ष—इन दोनोंमें सोमवल्ली अधिक गुणोंवाली है। इस सोमवल्लीका कृष्णपक्षमें प्रतिदिन एक-एक पत्ता झड़ जाता है और शुक्लपक्षमें पुनः प्रतिदिन एक-एक पत्ता निकल आता है। इस तरह यह लता बढ़ती रहती है। पूर्णिमाके दिन इस लताका कन्द निकाला जाय तो वह बहुत श्रेष्ठ होता है। धतूरेके सहित इस कन्दमें बँधा हुआ पारद देहको लोहेकी तरह दृढ़ बना देता है और इससे बँधा हुआ पारद लक्षवेधी हो जाता है अर्थात् एकगुणा बद्ध पारद लाखगुणा लोहेको सोना बना देता है। यह सोम नामकी लता अत्यन्त ही दुर्लभ है।'

**व्याख्या**—‘ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं’...‘कामकामा लभन्ते’—स्वर्गलोक भी विशाल (विस्तृत) है, वहाँकी आयु भी विशाल (लम्बी) है और वहाँकी भोग-सामग्री भी विशाल (बहुत) है। इसलिये इन्द्रलोकको ‘विशाल’ कहा गया है।

स्वर्गकी प्राप्ति चाहनेवाले न तो भगवान्का आश्रय लेते हैं और न भगवत्प्राप्तिके किसी साधनका ही आश्रय लेते हैं। वे तो केवल तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम धर्मों- (अनुष्ठानों-)का ही आश्रय लेते हैं। इसलिये उनको त्रयीधर्मके शरण बताया गया है।

‘गतागतम्’ का अर्थ है—जाना और आना। सकाम अनुष्ठान करनेवाले स्वर्गके प्रापक जिन पुण्योंके फलस्वरूप स्वर्गमें जाते हैं, उन पुण्योंके समाप्त होनेपर वे पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं। इस प्रकार उनका घटीयन्त्रकी

तरह बार-बार सकाम शुभकर्म करके स्वर्गमें जाने और फिर लौटकर मृत्युलोकमें आनेका चक्कर चलता ही रहता है। इस चक्करसे वे कभी छूट नहीं पाते।

अगर पूर्वश्लोकमें आये ‘पूतपापाः’ पदसे जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं और यहाँ आये ‘क्षीणे पुण्ये’ पदोंसे जिनके सम्पूर्ण पुण्य क्षीण हो गये हैं—ऐसा अर्थ लिया जाय, तो उनको (पाप-पुण्य दोनों क्षीण होनेसे) मुक्त हो जाना चाहिये? परन्तु वे मुक्त नहीं होते, प्रत्युत आवागमनको प्राप्त होते हैं। इसलिये यहाँ ‘पूतपापाः’ पदसे वे लिये गये हैं, जिनके स्वर्गके प्रतिबन्धक पाप यज्ञ करनेसे नष्ट हो गये हैं और ‘क्षीणे पुण्ये’ पदोंसे वे लिये गये हैं, जिनके स्वर्गके प्रापक पुण्य वहाँका सुख भोगनेसे समाप्त हो गये हैं। अतः सम्पूर्ण पापों और पुण्योंके नाशकी बात यहाँ नहीं आयी है।

**सम्बन्ध**—जो त्रयीधर्मका आश्रय लेते हैं, उनको तो देवताओंसे प्रार्थना—याचना करनी पड़ती है; परन्तु जो केवल मेरा ही आश्रय लेते हैं, उनको अपने योगक्षेमके लिये मनमें चिन्ता, संकल्प अथवा याचना नहीं करनी पड़ती—यह बात भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

## अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

ये	= जो	पर्युपासते	= (मेरी) भलीभाँति उपासना करते हैं,	योगक्षेमम्	= योगक्षेम (अप्राप्त-की प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा)
अनन्याः	= अनन्य	नित्याभि-			
जनाः	= भक्त	युक्तानाम्	= (मुझमें) निरन्तर लगे हुए	अहम्	= मैं
माम्	= मेरा	तेषाम्	= उन भक्तोंका	वहामि	= वहन करता हूँ।
चिन्तयन्तः	= चिन्तन करते हुए				

**व्याख्या**—‘अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते’—जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आ रहा है, वह सब-का-सब भगवान्का स्वरूप ही है और उसमें जो कुछ परिवर्तन तथा चेष्टा हो रही है, वह सब-की-सब भगवान्की लीला है—ऐसा जो दृढ़तासे मान लेते हैं, समझ लेते हैं, उनकी फिर भगवान्के सिवाय कहीं भी महत्त्वबुद्धि नहीं होती। वे भगवान्में ही लगे रहते हैं। इसलिये वे ‘अनन्य’ हैं। केवल भगवान्में ही महत्ता और प्रियता होनेसे उनके द्वारा स्वतः भगवान्का ही चिन्तन होता है।

‘अनन्याः’ कहनेका दूसरा भाव यह है कि उनके साधन और साध्य केवल भगवान् ही हैं अर्थात् केवल भगवान्के ही शरण होना है, उन्हींका चिन्तन करना है, उन्हींकी उपासना करनी है और उन्हींको प्राप्त करना है—ऐसा उनका दृढ़ भाव

है। भगवान्के सिवाय उनका कोई अन्य भाव है ही नहीं; क्योंकि भगवान्के सिवाय अन्य सब नाशवान् है। अतः उनके मनमें भगवान्के सिवाय अन्य कोई इच्छा नहीं है; अपने जीवन-निर्वाहकी भी इच्छा नहीं है। इसलिये वे अनन्य हैं।

वे खाना-पीना, चलना-फिरना, बातचीत करना, व्यवहार करना आदि जो कुछ भी काम करते हैं, वह सब भगवान्की ही उपासना है; क्योंकि वे सब काम भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही करते हैं।

‘तेषां नित्याभियुक्तानाम्’—जो अनन्य होकर भगवान्का ही चिन्तन करते हैं और भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही सब काम करते हैं, उन्हींके लिये यहाँ ‘नित्याभियुक्तानाम्’ पद आया है।

इसको दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार समझें कि वे संसारसे

विमुख हो गये—यह उनकी 'अनन्यता' है, वे केवल भगवान्‌के सम्मुख हो गये—यह उनका 'चिन्तन' है और सक्रिय-अक्रिय सभी अवस्थाओंमें भगवत्सेवापरायण हो गये—यह उनकी 'उपासना' है। ये तीनों बातें जिनमें हो जाती हैं, वे ही 'नित्याभियुक्त' हैं।

**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'**—अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति करा देना 'योग' है और प्राप्त सामग्रीकी रक्षा करना 'क्षेम' है। भगवान् कहते हैं कि मेरेमें नित्य-निरन्तर लगे हुए भक्तोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।

वास्तवमें देखा जाय तो अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति करानेमें भी 'योग' का वहन है और प्राप्ति न करानेमें भी 'योग' का वहन है। कारण कि भगवान् तो अपने भक्तका हित देखते हैं और वही काम करते हैं, जिसमें भक्तका हित होता हो। ऐसे ही प्राप्त वस्तुकी रक्षा करनेमें भी 'क्षेम' का वहन है और रक्षा न करनेमें भी 'क्षेम' का वहन है। अगर भक्तकी भक्ति बढ़ती हो, उसका कल्याण होता हो तो भगवान् प्राप्तकी रक्षा करेंगे; क्योंकि इसीमें उसका 'क्षेम' है। अगर प्राप्तकी रक्षा करनेसे उसकी भक्ति न बढ़ती हो, उसका हित न होता हो तो भगवान् उस प्राप्त वस्तुको नष्ट कर देंगे; क्योंकि नष्ट करनेमें ही उसका 'क्षेम' है। इसलिये भगवान्‌के भक्त अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों परिस्थितियोंमें परम प्रसन्न रहते हैं। भगवान्‌पर निर्भर रहनेके कारण उनका यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि जो भी परिस्थिति आती है, वह भगवान्‌की ही भेजी हुई है। अतः 'अनुकूल परिस्थिति ठीक है और प्रतिकूल परिस्थिति बेठीक है'—उनका यह भाव मिट जाता है। उनका भाव रहता है कि

**परिशिष्ट भाव**—भगवान् यहाँ पूर्वश्लोकमें वर्णित वैदिक सकामी मनुष्यों और आगेके श्लोकमें वर्णित अन्य देवताओंके उपासकोंकी अपेक्षा अपने भक्तोंकी विशेषता बताते हैं। भगवान्‌के अनन्यभक्त न तो पूर्वश्लोकमें वर्णित इन्द्रको मानते हैं और न आगेके श्लोकमें वर्णित अन्य देवताओंको मानते हैं। इन्द्रादिकी उपासना करनेवालोंको तो कामनाके अनुसार सीमित फल मिलता है। परन्तु भगवान्‌की उपासना करनेवालेको असीम फल मिलता है। देवताओंका उपासक तो मजदूर (नौकर) की तरह है और भगवान्‌की उपासना करनेवाला घरके सदस्यकी तरह है। मजदूर काम करता है तो उसको मजदूरीके अनुसार सीमित पैसे मिलते हैं, पर घरका सदस्य काम करता है तो सब कुछ उसीका होता है।

अनन्यभक्त वे हैं, जिनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्यकी सत्ता ही नहीं है—'उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाही ॥' (मानस, अरण्य० ५। ६)।

**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'**—भगवान् साधकको उसके लिये आवश्यक साधन-सामग्री प्राप्त कराते हैं और प्राप्त साधन-सामग्रीकी रक्षा करते हैं—यही भगवान्‌का योगक्षेम वहन करना है। यद्यपि भगवान् सभी साधकोंका योगक्षेम वहन करते हैं, तथापि अनन्यभक्तोंका योगक्षेम विशेषरूपसे वहन करते हैं; जैसे—प्यारे बच्चेका पालन माँ स्वयं करती है, नौकरोंसे नहीं करवाती।

जैसे भक्तको भगवान्‌की सेवामें आनन्द आता है, ऐसे ही भगवान्‌को भी भक्तकी सेवामें आनन्द आता है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४। ११)।

'भगवान्‌ने जो किया है, वही ठीक है और भगवान्‌ने जो नहीं किया है, वही ठीक है, उसीमें हमारा कल्याण है'।

'ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये'—यह सोचनेकी हमें किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। कारण कि हम सदा भगवान्‌के हाथमें ही हैं और भगवान् सदा ही हमारा वास्तविक हित करते रहते हैं। इसलिये हमारा अहित कभी हो ही नहीं सकता। तात्पर्य है कि भक्तका मनचाहा हो जाय तो उसमें भी कल्याण है और मनचाहा न हो तो उसमें भी कल्याण है। भक्तका चाहा और न चाहा कोई मूल्य नहीं रखता, मूल्य तो भगवान्‌के विधानका है। इसलिये अगर कोई अनुकूलतामें प्रसन्न और प्रतिकूलतामें खिन्न होता है, तो वह भगवान्‌का दास नहीं है, प्रत्युत अपने मनका दास है।

वास्तवमें तो 'योग' नाम भगवान्‌के साथ सम्बन्धका है और 'क्षेम' नाम जीवके कल्याणका है। इस दृष्टिसे भगवान् भक्तके सम्बन्धको अपने साथ दृढ़ करते हैं—यह तो भक्तका 'योग' हुआ और भक्तके कल्याणकी चेष्टा करते हैं—यह भक्तका 'क्षेम' हुआ। इसी बातको लेकर दूसरे अध्यायके पैतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनके लिये आज्ञा दी कि 'तू नियोगक्षेम हो जा' अर्थात् तू योग और क्षेम-सम्बन्धी किसी प्रकारकी चिन्ता मत कर।

**'वहाम्यहम्'** का तात्पर्य है कि जैसे छोटे बच्चेके लिये माँ किसी वस्तुकी आवश्यकता समझती है, तो बड़ी प्रसन्नता और उत्साहके साथ स्वयं वह वस्तु लाकर देती है। ऐसे ही मेरेमें निरन्तर लगे हुए भक्तोंके लिये मैं किसी वस्तुकी आवश्यकता समझता हूँ तो वह वस्तु मैं स्वयं ढोकर लाता हूँ अर्थात् भक्तोंके सब काम मैं स्वयं करता हूँ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अपनी उपासनाकी बात कह करके अब भगवान् अन्य देवताओंकी उपासनाकी बात कहते हैं।

**येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।**

**तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥**

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन !	अन्यदेवताः	= अन्य देवताओंका	यजन्ति	= पूजन करते हैं,
ये	= जो	यजन्ते	= पूजन करते हैं,	अविधिपूर्वकम्	= (पर करते हैं)
अपि	= भी	ते	= वे		अविधिपूर्वक
भक्ताः	= भक्त ( मनुष्य )	अपि	= भी		अर्थात् देवताओंको
श्रद्धया,		माम्	= मेरा		मुझसे अलग मानते
अन्विताः	= श्रद्धापूर्वक	एव	= ही		हैं।

**व्याख्या—‘येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः’**—देवताओंके जिन भक्तोंको ‘सब कुछ मैं ही हूँ’ (‘सदसच्चाहम्’ ९। १९)—यह समझमें नहीं आया है और जिनकी श्रद्धा अन्य देवताओंपर है, वे उन देवताओंका ही श्रद्धापूर्वक पूजन करते हैं। वे देवताओंको मेरेसे अलग और बड़ा मानकर अपनी-अपनी श्रद्धा-भक्तिके अनुसार अपने-अपने इष्ट देवताके नियमोंको धारण करते हैं। इन देवताओंकी कृपासे ही हमें सब कुछ मिल जायगा—ऐसा समझकर नित्य-निरन्तर देवताओंकी ही सेवा-पूजामें लगे रहते हैं।

**‘तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्’**—देवताओंका पूजन करनेवाले भी वास्तवमें मेरा ही पूजन करते हैं; क्योंकि तत्त्वसे मेरे सिवाय कुछ है ही नहीं। मेरेसे अलग उन देवताओंकी सत्ता ही नहीं है। वे मेरे ही स्वरूप हैं। अतः उनके द्वारा किया गया देवताओंका पूजन भी वास्तवमें मेरा ही पूजन है, पर है अविधिपूर्वक। अविधिपूर्वक कहनेका मतलब यह नहीं है कि पूजनसामग्री कैसी होनी चाहिये? उनके मन्त्र कैसे होने चाहिये? उनका पूजन कैसे होना चाहिये? आदि-आदि विधियोंका उनको ज्ञान नहीं है। इसका मतलब है—मेरेको उन देवताओंसे अलग मानना। जैसे कामनाके कारण ज्ञान हरा जानेसे वे देवताओंके शरण होते हैं (गीता—सातवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक), ऐसे ही

यहाँ मेरेसे देवताओंकी अलग (स्वतन्त्र) सत्ता मानकर जो देवताओंका पूजन करना है, यही अविधिपूर्वक पूजन करना है।

इस श्लोकका निष्कर्ष यह निकला कि (१) अपनेमें किसी प्रकारकी किंचिन्मात्र भी कामना न हो और उपास्यमें भगवद्बुद्धि हो, तो अपनी-अपनी रुचिके अनुसार किसी भी प्राणीको, मनुष्यको और किसी भी देवताको अपना उपास्य मानकर उसकी पूजा की जाय, तो वह सब भगवान्का ही पूजन हो जायगा और उसका फल भगवान्की ही प्राप्ति होगा; और (२) अपनेमें किंचिन्मात्र भी कामना हो और उपास्यरूपमें साक्षात् भगवान् हों तो वह अर्थार्थी, आर्त आदि भक्तोंकी श्रेणीमें आ जायगा, जिनको भगवान्ने उदार कहा है (सातवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)।

वास्तवमें सब कुछ भगवान् ही हैं। अतः जिस किसीकी उपासना की जाय, सेवा की जाय, हित किया जाय, वह प्रकारान्तरसे भगवान्की ही उपासना है। जैसे आकाशसे बरसा हुआ पानी नदी, नाला, झरना आदि बनकर अन्तमें समुद्रको ही प्राप्त होता है (क्योंकि वह जल समुद्रका ही है), ऐसे ही मनुष्य जिस किसीका भी पूजन करे, वह तत्त्वसे भगवान्का ही पूजन होता है\*। परन्तु पूजकको लाभ तो अपनी-अपनी भावनाके अनुसार ही होता है।

**परिशिष्ट भाव—‘त्रैविद्या माम्’** (९। २०), **‘अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्’** (९। २२) और **‘तेऽपि मामेव’** (९। २३)—तीनों जगह भगवान्के लिये ‘माम्’ शब्द देनेका तात्पर्य है कि सब कुछ भगवान् ही हैं, इसलिये भगवान् सबको अपना ही स्वरूप जानते हैं। अगर मनुष्यमें कामना न हो और सबमें भगवद्बुद्धि हो तो वह किसीकी भी उपासना करे, वह वास्तवमें भगवान्की ही उपासना है। तात्पर्य है कि अगर निष्कामभाव और भगवद्बुद्धि हो जाय तो उसका

\* आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्। सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति ॥ (लौगाक्षिस्मृति)

पूजन अविधिपूर्वक नहीं रहेगा, प्रत्युत वह भगवान्का ही पूजन हो जायगा।

सातवें अध्यायमें 'देवयजः' पद आया था (७। २३), उसीको यहाँ 'यजन्ते' पदसे कहा गया है।

सम्बन्ध—देवताओंका पूजन करनेवालोंका अविधिपूर्वक पूजन करना क्या है? इसपर कहते हैं—

**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।**

**न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥**

हि	= क्योंकि	च	= भी	तत्त्वेन	= तत्त्वसे
सर्वयज्ञानाम्	= सम्पूर्ण यज्ञोंका	अहम्	= मैं	न	= नहीं
भोक्ता	= भोक्ता	एव	= ही हूँ;	अभिजानन्ति	= जानते,
च	= और	तु	= परन्तु	अतः	= इसीसे
प्रभुः	= स्वामी	ते	= वे	च्यवन्ति	= उनका पतन होता है।
		माम्	= मुझे		

व्याख्या—[दूसरे अध्यायमें भगवान्ने कहा है कि जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, वे 'मेरेको केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है'—ऐसा निश्चय नहीं कर सकते (दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। अतः परमात्माकी तरफ चलनेमें दो बाधाएँ मुख्य हैं—अपनेको भोगोंका भोक्ता मानना और अपनेको संग्रहका मालिक मानना। इन दोनोंसे ही मनुष्यकी बुद्धि उलटी हो जाती है, जिससे वह परमात्मासे सर्वथा विमुख हो जाता है। जैसे, बचपनमें बालक माँके बिना रह नहीं सकता; पर बड़ा होनेपर जब उसका विवाह हो जाता है, तब वह स्त्रीसे 'मेरी स्त्री है' ऐसा सम्बन्ध जोड़कर उसका भोक्ता और मालिक बन जाता है। फिर उसको माँ उतनी अच्छी नहीं लगती, सुहाती नहीं। ऐसे ही जब यह जीव भोग और ऐश्वर्यमें लग जाता है अर्थात् अपनेको भोगोंका भोक्ता और संग्रहका मालिक मानकर उनका दास बन जाता है और भगवान्से सर्वथा विमुख हो जाता है, तो फिर उसको यह बात याद ही नहीं रहती कि सबके भोक्ता और मालिक भगवान् हैं। इसीसे उसका पतन हो जाता है। परन्तु जब इस जीवको चेत हो जाता है कि वास्तवमें मात्र भोगोंके भोक्ता और मात्र ऐश्वर्यके मालिक भगवान् ही हैं, तो फिर वह भगवान्में लग जाता है, ठीक रास्तेपर आ जाता है। फिर उसका पतन नहीं होता।]

'अहं हि सर्वयज्ञानां\* भोक्ता च प्रभुरेव च'—

शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार मनुष्य यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि जितने शुभकर्म करते हैं तथा अपने वर्ण-आश्रमकी मर्यादाके अनुसार जितने व्यावहारिक और शारीरिक कर्तव्यकर्म करते हैं, उन सब कर्मोंका भोक्ता अर्थात् फलभागी मैं हूँ। कारण कि वेदोंमें, शास्त्रोंमें, पुराणोंमें, स्मृति-ग्रन्थोंमें प्राणियोंके लिये शुभ-कर्मोंका जो विधान किया गया है, वह सब-का-सब मेरा ही बनाया हुआ है और मेरेको देनेके लिये ही बनाया हुआ है, जिससे ये प्राणी सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंसे और उनके फलोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहें, कभी अपने स्वरूपसे च्युत न हों और अनन्य भावसे केवल मेरेमें ही लगे रहें। अतः उन सम्पूर्ण शुभ-कर्मोंका और व्यावहारिक तथा शारीरिक कर्तव्य-कर्मोंका भोक्ता मैं ही हूँ।

जैसे सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता (फलभागी) मैं ही हूँ, ऐसे ही सम्पूर्ण संसारका अर्थात् सम्पूर्ण लोक, पदार्थ, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया और प्राणियोंके शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदिका मालिक भी मैं ही हूँ। कारण कि अपनी प्रसन्नताके लिये ही मैंने अपनेमेंसे इस सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना की है; अतः इन सबकी रचना करनेवाला होनेसे इनका मालिक मैं ही हूँ।

### विशेष बात

भगवान्का भोक्ता बनना क्या है?

भगवान्ने कहा है कि महात्माओंकी दृष्टिमें सब कुछ

\* यहाँ बहुवचन 'यज्ञानाम्' शब्दके अन्तर्गत सम्पूर्ण कर्तव्यकर्म आ जाते हैं, फिर भी इसके साथ 'सर्व' शब्द लगानेका तात्पर्य है कि शास्त्रीय, शारीरिक, व्यावहारिक आदि कोई भी कर्तव्यकर्म बाकी न रहे।

वासुदेव ही है (सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक) और मेरी दृष्टिमें भी सत्-असत् सब कुछ मैं ही हूँ (नवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। जब सब कुछ मैं ही हूँ, तो कोई किसी देवताकी पुष्टिके लिये यज्ञ करता है, उस यज्ञके द्वारा देवतारूपमें मेरी ही पुष्टि होती है। कोई किसीको दान देता है, तो दान लेनेवालेके रूपमें मेरा ही अभाव दूर होता है, उससे मेरी ही सहायता होती है। कोई तप करता है, तो उस तपसे तपस्वीके रूपमें मेरेको ही सुख-शान्ति मिलती है। कोई किसीको भोजन कराता है, तो उस भोजनसे प्राणोंके रूपमें मेरी ही तृप्ति होती है। कोई शौच-स्नान करता है, तो उससे उस मनुष्यके रूपमें मेरेको ही प्रसन्नता होती है। कोई पेड़-पौधोंको खाद देता है, उनको जलसे सींचता है तो वह खाद और जल पेड़-पौधोंके रूपमें मेरेको ही मिलता है और उनसे मेरी ही पुष्टि होती है। कोई किसी दीन-दुःखी, अपाहिजकी तन-मन-धनसे सेवा करता है तो वह मेरी ही सेवा होती है। कोई वैद्य-डॉक्टर किसी रोगीका इलाज करता है, तो वह इलाज मेरा ही होता है। कोई कुत्तोंको रोटी डालता है; कबूतरोंको दाना डालता है; गायोंकी सेवा करता है; भूखोंको अन्न देता है; प्यासोंको जल पिलाता है; तो उन सबके रूपमें मेरी ही सेवा होती है। उन सब वस्तुओंको मैं ही ग्रहण करता हूँ\*। जैसे कोई किसी मनुष्यकी सेवा करे, उसके किसी अंगकी सेवा करे, उसके कुटुम्बकी सेवा करे, तो वह सब सेवा उस मनुष्यकी ही होती है। ऐसे ही मनुष्य जहाँ-कहीं सेवा करे, जिस-किसीकी सहायता करे, वह सेवा और सहायता मेरेको ही मिलती है। कारण कि मेरे बिना अन्य कोई है ही नहीं। मैं ही अनेक रूपोंमें प्रकट हुआ हूँ—‘बहु स्यां प्रजायेय’ (तैत्तिरीय० २। ६)। तात्पर्य यह हुआ कि अनेक रूपोंमें सब कुछ ग्रहण करना ही भगवान्का भोक्ता बनना है।

भगवान्का मालिक बनना क्या है?

भगवत्तत्त्वको जाननेवाले भक्तोंकी दृष्टिमें अपरा और परा-प्रकृतिरूप मात्र संसारके मालिक भगवान् ही हैं।

संसारमात्रपर उनका ही अधिकार है। सृष्टिकी रचना करें या न करें, संसारकी स्थिति रखें या न रखें, प्रलय करें या न करें; प्राणियोंको चाहे जहाँ रखें, उनका चाहे जैसा संचालन करें, चाहे जैसा उपभोग करें, अपनी मरजीके मुताबिक चाहे जैसा परिवर्तन करें, आदि मात्र परिवर्तन-परिवर्द्धन करनेमें भगवान्की बिलकुल स्वतन्त्रता है। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे भोगी पुरुष भोग और संग्रहका चाहे जैसा उपभोग करनेमें स्वतन्त्र है (जबकि उसकी स्वतन्त्रता मानी हुई है, वास्तवमें नहीं है), ऐसे ही भगवान् मात्र संसारका चाहे जैसा परिवर्तन-परिवर्द्धन करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं। भगवान्की वह स्वतन्त्रता वास्तविक है। यही भगवान्का मालिक बनना है।

‘न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते’— वास्तवमें सत्-असत्, जड-चेतन आदि सब कुछ मैं ही हूँ। अतः जो भी कर्तव्य-कर्म किये जायँ, उन कर्मोंका और उनके फलोंका भोक्ता मैं ही हूँ, तथा सम्पूर्ण सामग्रीका मालिक भी मैं ही हूँ। परन्तु जो मनुष्य इस तत्त्वको नहीं जानते, वे तो यही समझते हैं कि हम जिस किसीको जो कुछ देते हैं, खिलाते हैं, पिलाते हैं, वह सब उन-उन प्राणियोंको ही मिलता है; जैसे—हम यज्ञ करते हैं, तो यज्ञके भोक्ता देवता बनते हैं; दान देते हैं, तो दानका भोक्ता वह लेनेवाला बनता है? कुत्तेको रोटी और गायको घास देते हैं, तो उस रोटी और घासके भोक्ता कुत्ता और गाय बनते हैं; हम भोजन करते हैं, तो भोजनके भोक्ता हम स्वयं बनते हैं, आदि-आदि। तात्पर्य यह हुआ कि वे सब रूपोंमें मेरेको न मानकर अन्यको ही मानते हैं, इसीसे उनका पतन होता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह किसी अन्यको भोक्ता और मालिक न मानकर केवल मेरेको ही भोक्ता और मालिक माने अर्थात् जो कुछ चीज दी जाय, उसको मेरी ही समझकर मेरे अर्पण करे—‘त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।’

दूसरा भाव यह है कि मनुष्यके पास जो कुछ भोग और ऐश्वर्य है, वह सब मेरा ही है और मेरे विराटरूप संसारकी

\* एक कथा सुनी है कि एक बार श्रीनामदेवजी महाराज तीर्थयात्रामें गये। यात्रामें कहींपर एक वृक्षके नीचे उन्होंने रोटियाँ बनायीं और सामानमेंसे घी लेनेके लिये पीछे घूमे तो इतनेमें ही एक कुत्ता आकर मुँहमें रोटी लेकर भागा। नामदेवजी महाराजने घी लेकर देखा कि कुत्ता रोटी लेकर भाग रहा है तो वे भी हाथमें घीका पात्र लिये उसके पीछे भागते हुए कहने लगे—‘हे नाथ! आपको ही तो भोग लगाना है, फिर रूखी रोटी लेकर क्यों भाग रहे हो? रोटीपर थोड़ा घी तो लगाने दीजिये।’ नामदेवजीके ऐसा कहते ही कुत्तेमेंसे भगवान् प्रकट हो गये। कुत्तेमें भगवान्के सिवाय और था ही कौन? नामदेवजी जान गये तो वे प्रकट हो गये। इस प्रकार प्राणिमात्रमें तत्त्वसे भगवान् ही हैं। इसलिये जिस किसीको जो कुछ दिया जाता है, वह भगवान्को ही मिलता है।

सेवाके लिये ही है। परन्तु भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त मनुष्य उस तत्त्वको न जाननेके कारण उस भोग और ऐश्वर्यको अपना और अपने लिये मान लेते हैं, जिससे वे यही समझते हैं कि ये सब चीजें हमारे उपभोगमें आनेवाली हैं और हम इनके अधिपति हैं, मालिक हैं। पर वास्तवमें वे उन चीजोंके गुलाम हो जाते हैं। वे जितना ही उन चीजोंको अपनी और अपने लिये मानते हैं, उतने ही उनके पराधीन हो जाते हैं। फिर वे उन चीजोंके बनने-बिगड़नेसे अपना बना-बिगड़ना मानने लगते हैं। इसलिये उनका

पतन हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि मेरेको सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और मालिक जाननेसे मुक्ति हो जाती है और न जाननेसे पतन हो जाता है।

‘च्यवन्ति’ पदका तात्पर्य है कि भगवान्को प्राप्त न होनेसे उनका पतन हो जाता है। वे शुभकर्म करके ऊँचे-ऊँचे लोकोंमें चले जायँ, तो यह भी उनका पतन है; क्योंकि वहाँसे उनको पीछे लौटकर आना ही पड़ता है (गीता— नवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। वे आवागमनको प्राप्त होते ही रहते हैं; मुक्त नहीं हो सकते।

**परिशिष्ट भाव**—पाँचवें अध्यायके अन्तमें भी भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण यज्ञों और तपोंका भोक्ता बताया है— ‘भोक्तारं यज्ञतपसाम्’ (५। २९)। वहाँ तो भगवान्ने अन्वयरीतिसे अपनेको सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता जाननेवालोंको शान्ति प्राप्त होनेकी बात कही है और यहाँ व्यतिरेकरीतिसे वैसा न जाननेवालोंका पतन होनेकी बात कही है। स्वयं भोक्ता बननेसे ही पतन होता है। भगवान्को सम्पूर्ण शुभकर्मोंका भोक्ता माननेसे अपनेमें भोक्तापन या भोगेच्छा नहीं रहती। भोगेच्छा न रहनेसे शान्ति प्राप्त हो जाती है।

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्मोंके महाकर्ता और महाभोक्ता भगवान् ही हैं। परन्तु कर्ता-भोक्ता होते हुए भी भगवान् वास्तवमें निर्लिप्त ही हैं अर्थात् उनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—‘तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्’ (गीता ४। १३), ‘न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा’ (गीता ४। १४)।

*सम्बन्ध*—जो भगवान्को सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और मालिक न मानकर देवता आदिका सकामभावसे पूजन करते हैं, उनकी गतियोंका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

**यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।**

**भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥**

<b>देवव्रताः</b>	= (सकामभावसे) देवताओंका पूजन करनेवाले (शरीर छोड़नेपर)	<b>पितृव्रताः</b>	= पितरोंका पूजन करनेवाले	<b>भूतानि</b>	= भूत-प्रेतोंको
<b>देवान्</b>	= देवताओंको	<b>पितृन्</b>	= पितरोंको	<b>यान्ति</b>	= प्राप्त होते हैं।
<b>यान्ति</b>	= प्राप्त होते हैं।	<b>यान्ति</b>	= प्राप्त होते हैं।	<b>मद्याजिनः</b>	= (परन्तु) मेरा पूजन करनेवाले
		<b>भूतेज्याः</b>	= भूत-प्रेतोंका पूजन करनेवाले	<b>माम्</b>	= मुझे
				<b>अपि</b>	= ही
				<b>यान्ति</b>	= प्राप्त होते हैं।

*व्याख्या*—[पूर्वश्लोकमें भगवान्ने यह बताया कि मैं ही सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और सम्पूर्ण संसारका मालिक हूँ, परन्तु जो मनुष्य मेरेको भोक्ता और मालिक न मानकर स्वयं भोक्ता और मालिक बन जाते हैं, उनका पतन हो जाता है। अब इस श्लोकमें उनके पतनका विवेचन करते हैं।]

‘यान्ति देवव्रता देवान्’—भगवान्को ठीक तरहसे न जाननेके कारण भोग और ऐश्वर्यको चाहनेवाले पुरुष वेदों और शास्त्रोंमें वर्णित नियमों, व्रतों, मन्त्रों, पूजन-विधियों आदिके अनुसार अपने-अपने उपास्य देवताओंका विधि-

विधानसे सांगोपांग पूजन करते हैं, अनुष्ठान करते हैं और सर्वथा उन देवताओंके परायण हो जाते हैं (गीता—सातवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। वे उपास्य देवता अपने उन भक्तोंको अधिक-से-अधिक और ऊँचा-से-ऊँचा फल यही देंगे कि उनको अपने-अपने लोकोंमें ले जायँगे, जिन लोकोंको भगवान्ने पुनरावर्ती कहा है (आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)।

तेईसवें श्लोकमें भगवान्ने बताया कि देवताओंका पूजन भी मेरा ही पूजन है; परन्तु वह पूजन अविधिपूर्वक

है। उस पूजनमें विधिरहितपना यह है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं' इस बातको वे जानते नहीं, मानते नहीं तथा देवता आदिका पूजन करके भोग और ऐश्वर्यको चाहते हैं। इसलिये उनका पतन होता है। अगर वे देवता आदिके रूपमें मेरेको ही मानते और उन भगवत्स्वरूप देवताओंसे कुछ भी नहीं चाहते, तो वे देवता अथवा स्वयं मैं भी उनको कुछ देना चाहता, तो भी वे ऐसा ही कहते कि 'हे प्रभो! आप हमारे हैं और हम आपके हैं—आपके साथ इस अपनेपनसे भी बढ़कर कुछ और (भोग तथा ऐश्वर्य) होता, तो हम आपसे चाहते भी और माँगते भी। अब आप ही बताइये, इससे बढ़कर क्या है?' इस तरहके भाववाले वे मेरेको ही आनन्द देनेवाले बन जाते, तो फिर वे तुच्छ और क्षणभंगुर देवलोकोंको प्राप्त नहीं होते।

'पितृन्यान्ति पितृव्रताः'—जो सकामभावसे पितरोंका पूजन करते हैं, उनको पितरोंसे कई तरहकी सहायता मिलती है। इसलिये लौकिक सिद्धि चाहनेवाले मनुष्य पितरोंके व्रतोंका, नियमोंका, पूजन-विधियोंका सांगोपांग पालन करते हैं और पितरोंको अपना इष्ट मानते हैं। उनको अधिक-से-अधिक और ऊँचा-से-ऊँचा फल यह मिलेगा कि पितर उनको अपने लोकमें ले जायँगे। इसलिये यहाँ कहा गया कि पितरोंका पूजन करनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं।

'भूतानि यान्ति भूतेज्याः'—तामस स्वभाववाले मनुष्य सकामभावपूर्वक भूत-प्रेतोंका पूजन करते हैं और उनके नियमोंको धारण करते हैं। जैसे, मन्त्र-जपके लिये गधेकी पूँछके बालोंका धागा बनाकर उसमें ऊँटके दाँतोंकी मणियाँ पिरोना, रात्रिमें श्मशानमें जाकर और मुर्देपर बैठकर भूत-प्रेतोंके मन्त्रोंको जपना, मांस-मदिरा आदि महान् अपवित्र चीजोंसे भूत-प्रेतोंका पूजन करना आदि-आदि। इससे अधिक-से-अधिक उनकी सांसारिक कामनाएँ सिद्ध हो सकती हैं। मरनेके बाद तो उनकी दुर्गति ही होगी अर्थात् उनको भूत-प्रेतकी योनि प्राप्त होगी। इसलिये यहाँ कहा

गया कि भूतोंका पूजन करनेवाले भूत-प्रेतोंको प्राप्त होते हैं।

'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्'—जो अनन्यभावसे किसी भी तरह मेरे भजन, पूजन और चिन्तनमें लग जाते हैं, वे निश्चितरूपसे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।

### विशेष बात

सांसारिक भोग और ऐश्वर्यकी कामनावाले मनुष्य अपने-अपने इष्टके पूजन आदिमें तत्परतासे लगे रहते हैं और इष्टकी प्रसन्नताके लिये सब काम करते हैं; परन्तु भगवान्के भजन-ध्यानमें लगनेवाले जिस तत्त्वको प्राप्त होते हैं, उसको प्राप्त न होकर वे बार-बार सांसारिक तुच्छ भोगोंको और नरकों तथा चौरासी लाख योनियोंको प्राप्त होते रहते हैं। इस तरह जो मनुष्यजन्म पाकर भगवान्के साथ प्रेमका सम्बन्ध जोड़कर उनको भी आनन्द देनेवाले हो सकते थे, वे सांसारिक तुच्छ कामनाओंमें फँसकर और तुच्छ देवता, पितर आदिके फेरमें पड़कर कितनी अनर्थ-परम्पराको प्राप्त होते हैं! इसलिये मनुष्यको बड़ी सावधानीसे केवल भगवान्में ही लग जाना चाहिये।

देवता, पितर, ऋषि, मुनि, मनुष्य आदिमें भगवद्बुद्धि हो और निष्कामभावपूर्वक केवल उनकी पुष्टिके लिये, उनके हितके लिये ही उनकी सेवा-पूजा की जाय, तो भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। इन देवता आदिको भगवान्से अलग मानना और अपना सकामभाव रखना ही पतनका कारण है।

भूत, प्रेत, पिशाच आदि योनि ही अशुद्ध है और उनकी पूजा-विधि, सामग्री, आराधना आदि भी अत्यन्त अपवित्र है। इनका पूजन करनेवाले इनमें न तो भगवद्बुद्धि कर सकते हैं\* और न निष्कामभाव ही रख सकते हैं। इसलिये उनका तो सर्वथा पतन ही होता है। इस विषयमें थोड़े वर्ष पहलेकी एक सच्ची घटना है। कोई 'कर्णपिशाचिनी' की उपासना करनेवाला था। उसके पास कोई भी कुछ पूछने आता, तो वह उसके बिना पूछे ही बता देता कि यह तुम्हारा

\* अगर भक्तका किसी भूत-प्रेतमें भगवद्भाव हो भी जाय तो उस भूत-प्रेतका उद्धार हो जाता है और भक्तको भगवान्के दर्शन हो जाते हैं। जैसे, भक्त नामदेवजीको एक बार लम्बे कदका एक भयंकर प्रेत दिखायी दिया तो वे उसे भगवत्स्वरूप ही समझकर प्रसन्नतापूर्वक कह उठे—

भले पधारे लम्बकनाथ!

धरनी पाँव, स्वर्ग लों माथा, जोजन भरके लाँबे हाथ॥

सिव सनकादिक पार न पावें, अनगिन साज सजाये साथ।

नामदेवके तुम ही स्वामी, कीजै मोकों आज सनाथ॥

इससे उस प्रेतका उद्धार हो गया और उसकी जगह भगवान् प्रकट हो गये!



प्रश्न है और यह उसका उत्तर है। इससे उसने बहुत रुपये कमाये।

अब उस विद्याके चमत्कारको देखकर एक सज्जन उसके पीछे पड़ गये कि 'मेरेको भी यह विद्या सिखाओ, मैं भी इसको सीखना चाहता हूँ।' तो उसने सरलतासे कहा कि 'यह विद्या चमत्कारी तो बहुत है, पर वास्तविक हित, कल्याण करनेवाली नहीं है।' उससे यह पूछा गया कि 'आप दूसरेके बिना कहे ही उसके प्रश्नको और उत्तरको कैसे जान जाते हो?' तो उसने कहा कि 'मैं अपने कानमें विष्ठा लगाये रखता हूँ। जब कोई पूछने आता है, तो उस समय कर्णपिशाचिनी आकर मेरे कानमें उसका प्रश्न और प्रश्नका उत्तर सुना देती है और मैं वैसा ही कह देता हूँ।' फिर उससे पूछा गया कि 'आपका मरना कैसे होगा— इस विषयमें आपने कुछ पूछा है कि नहीं?' इसपर उसने कहा कि 'मेरा मरना तो नर्मदाके किनारे होगा।' उसका शरीर शान्त होनेके बाद पता लगा कि जब वह (अपना अन्त-समय जानकर) नर्मदामें जाने लगा, तब कर्णपिशाचिनी सूकरी बनकर उसके सामने आ गयी। उसको देखकर वह

नर्मदाकी तरफ भागा, तो कर्णपिशाचिनीने उसको नर्मदामें जानेसे पहले ही किनारेपर मार दिया। कारण यह था कि अगर वह नर्मदामें मरता तो उसकी सद्गति हो जाती। परन्तु कर्णपिशाचिनीने उसकी सद्गति नहीं होने दी और उसको नर्मदाके किनारेपर ही मारकर अपने साथ ले गयी।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि देवता, पितर आदिकी उपासना स्वरूपसे त्याज्य नहीं है; परन्तु भूत, प्रेत, पिशाच आदिकी उपासना स्वरूपसे ही त्याज्य है। कारण कि देवताओंमें भगवद्भाव और निष्कामभाव हो, तो उनकी उपासना भी कल्याण करनेवाली है। परन्तु भूत, प्रेत आदिकी उपासना करनेवालोंकी कभी सद्गति होती ही नहीं, दुर्गति ही होती है।

हाँ, पारमार्थिक साधक भूत-प्रेतोंके उद्धारके लिये उनका श्राद्ध-तर्पण कर सकते हैं। कारण कि उन भूत-प्रेतोंको अपना इष्ट मानकर उनकी उपासना करना ही पतनका कारण है। उनके उद्धारके लिये श्राद्ध-तर्पण करना अर्थात् उनको पिण्ड-जल देना कोई दोषकी बात नहीं है। सन्त-महात्माओंके द्वारा भी अनेक भूत-प्रेतोंका उद्धार हुआ है।

**परिशिष्ट भाव**—'व्रत' का अर्थ है—नियम। अतः 'देवव्रत' शब्दका अर्थ हुआ—देवताओंकी उपासनाके नियमोंको धारण करना (गीता—सातवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। भगवान्के शरण होकर उन्हींके लिये कर्म करना भगवान्का पूजन है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गीता १८। ४६)।

मात्र क्रियाओंको भगवान्के अर्पण करनेसे सब भगवान्का पूजन हो जाता है (गीता—नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। निष्कामभाव और भगवद्बुद्धि होनेसे कोई निषिद्ध क्रिया हो ही नहीं सकती; क्योंकि कामनाके कारण ही निषिद्ध क्रिया होती है (गीता—तीसरे अध्यायका छत्तीसवाँ-सैंतीसवाँ श्लोक)।

वास्तवमें सब कुछ भगवान्का ही रूप है। परन्तु जो भगवान्के सिवाय दूसरी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता मानता है, उसका उद्धार नहीं होता। वह ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें भी चला जाय तो भी उसको लौटकर संसारमें आना ही पड़ता है (गीता—आठवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—देवताओंके पूजनमें तो बहुत-सी सामग्री, नियमों और विधियोंकी आवश्यकता होती है, फिर आपके पूजनमें तो और भी ज्यादा कठिनता होती होगी? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।**

**तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥**

यः	= जो भक्त	भक्त्या	= प्रेमपूर्वक	भक्त्युपहतम्	= प्रेमपूर्वक दिये हुए
पत्रम्	= पत्र,	मे	= मेरे		उपहार-( भेंट- )
पुष्पम्	= पुष्प,	प्रयच्छति	= अर्पण करता है,		को
फलम्	= फल,	तत्	= उस (मुझमें)	अहम्	= मैं
तोयम्	= जल आदि-( यथा- साध्य एवं अनायास प्राप्त वस्तु-) को	प्रयतात्मनः	= तल्लीन हुए अन्तः- करणवाले भक्तके द्वारा	अश्नामि	= खा लेता हूँ अर्थात् स्वीकार कर लेता हूँ।

**व्याख्या**—[ भगवान्की अपरा प्रकृतिके दो कार्य हैं— पदार्थ और क्रिया। इन दोनोंके साथ अपनी एकता मानकर ही यह जीव अपनेको उनका भोक्ता और मालिक मानने लग जाता है और इन पदार्थों और क्रियाओंके भोक्ता एवं मालिक भगवान् हैं—इस बातको वह भूल जाता है। इस भूलको दूर करनेके लिये ही भगवान् यहाँ कहते हैं कि पत्र, पुष्प, फल आदि जो कुछ पदार्थ हैं और जो कुछ क्रियाएँ हैं (नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक), उन सबको मेरे अर्पण कर दो, तो तुम सदा-सदाके लिये आफतसे छूट जाओगे (नवें अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक)।

दूसरी बात, देवताओंके पूजनमें विधि-विधानकी, मन्त्रों आदिकी आवश्यकता है। परन्तु मेरा तो जीवके साथ स्वतः-स्वाभाविक अपनेपनका सम्बन्ध है, इसलिये मेरी प्राप्तिमें विधियोंकी मुख्यता नहीं है। जैसे, बालक माँकी गोदीमें जाय, तो उसके लिये किसी विधिकी जरूरत नहीं है। वह तो अपनेपनके सम्बन्धसे ही माँकी गोदीमें जाता है। ऐसे ही मेरी प्राप्तिके लिये विधि, मन्त्र आदिकी आवश्यकता नहीं है, केवल अपनेपनके दृढ़ भावकी आवश्यकता है।]

**‘पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति’**— जो भक्त अनायास यथासाध्य प्राप्त पत्र (तुलसीदल आदि), पुष्प, फल, जल आदि भी प्रेमपूर्वक भगवान्के अर्पण करता है, तो भगवान् उसको खा जाते हैं। जैसे, द्रौपदीसे पत्ता लेकर भगवान्ने खा लिया और त्रिलोकीको तृप्त कर दिया। गजेन्द्रने सरोवरका एक पुष्प भगवान्के अर्पण करके नमस्कार किया, तो भगवान्ने गजेन्द्रका उद्धार कर दिया। शबरीके दिये हुए फल खाकर भगवान् इतने प्रसन्न हुए कि जहाँ कहीं भोजन करनेका अवसर आया, वहाँ शबरीके फलोंकी प्रशंसा करते रहे। रन्तिदेवने अन्त्यजरूपसे आये भगवान्को जल पिलाया तो उनको भगवान्के साक्षात् दर्शन हो गये।

जब भक्तका भगवान्को देनेका भाव बहुत अधिक बढ़ जाता है, तब वह अपने-आपको भूल जाता है। भगवान् भी भक्तके प्रेममें इतने मस्त हो जाते हैं कि अपने-आपको भूल जाते हैं। प्रेमकी अधिकतामें भक्तको इसका खयाल नहीं रहता कि मैं क्या दे रहा हूँ, तो भगवान्को भी यह

खयाल नहीं रहता कि मैं क्या खा रहा हूँ! जैसे, विदुरानी प्रेमके आवेशमें भगवान्को केलोंकी गिरी न देकर छिलके देती हैं, तो भगवान् उन छिलकोंको भी गिरीकी तरह ही खा लेते हैं<sup>१</sup>!

**‘तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः’**—भक्तके द्वारा प्रेमपूर्वक दिये गये उपहारको भगवान् स्वीकार ही नहीं कर लेते, प्रत्युत उसको खा लेते हैं—**‘अश्नामि’**। जैसे, पुष्प सूँघनेकी चीज है, पर भगवान् यह नहीं देखते कि यह खानेकी चीज है या नहीं; वे तो उसको खा ही लेते हैं। उसको आत्मसात् कर लेते हैं, अपनेमें मिला लेते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि भक्तका देनेका भाव रहता है, तो भगवान्का भी लेनेका भाव हो जाता है। भक्तमें भगवान्को खिलानेका भाव आता है, तो भगवान्को भी भूख लग जाती है!

**‘प्रयतात्मनः’**का तात्पर्य है कि जिसका अन्तःकरण भगवान्में तल्लीन हो गया है, जो केवल भगवान्के ही परायण है, ऐसे प्रेमी भक्तके दिये हुए उपहार-(भेंट-) को भगवान् स्वयं खा लेते हैं।

यहाँ पत्र, पुष्प, फल और जल—इन चारोंका नाम लेनेका तात्पर्य यह है कि पत्र, पुष्प और फल—ये तीनों जलसे पैदा होनेके कारण जलके कार्य हैं और जल इनका कारण है। इसलिये ये पत्र, पुष्प आदि कार्य-कारणरूप मात्र पदार्थोंके उपलक्षण हैं; क्योंकि मात्र सृष्टि जलका कार्य है और जल उसका कारण है। अतः मात्र पदार्थोंको भगवान्के अर्पण करना चाहिये।

इस श्लोकमें **‘भक्त्या’** और **‘भक्त्युपहृतम्’**—इस रूपमें **‘भक्ति’** शब्द दो बार आया है। इनमें **‘भक्त्या’** पदसे भक्तका भक्तिपूर्वक देनेका भाव है और **‘भक्त्युपहृतम्’** पद भक्तिपूर्वक दी गयी वस्तुका विशेषण है। तात्पर्य यह हुआ कि भक्तिपूर्वक देनेसे वह वस्तु भक्तिरूप, प्रेमरूप हो जाती है, तो भगवान् उसको आत्मसात् कर लेते हैं; अपनेमें मिला लेते हैं; क्योंकि वे प्रेमके भूखे हैं।

### विशेष बात

इस श्लोकमें पदार्थोंकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत भक्तके भावकी मुख्यता है; क्योंकि भगवान् भावके भूखे हैं; पदार्थोंके नहीं। अतः अर्पण करनेवालेका भाव मुख्य

१-घर गुरु गृह प्रियसदन सासुरे, भड़ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहि सबरीके फलनिकी, रुचि माधुरी न पाई॥

( विनयपत्रिका १६४।४ )

२-‘ततवेता’ तिहूँ लोकमें, भोजन कियो अपार। इक शबरी इक विदुरघर, रुच पायो दो बार॥

(भक्तिपूर्ण) होना चाहिये। जैसे, कोई अत्यधिक गुरुभक्त शिष्य हो, तो गुरुकी सेवामें उसका जितना समय, वस्तु, क्रिया लगती है, उतना ही उसको आनन्द आता है, प्रसन्नता होती है। इसी तरह पतिकी सेवामें समय, वस्तु, क्रिया लगनेपर पतिव्रता स्त्रीको बड़ा आनन्द आता है; क्योंकि पतिकी सेवामें ही उसको अपने जीवनकी और वस्तुकी सफलता दीखती है। ऐसे ही भक्तका भगवान्के प्रति प्रेम-भाव होता है, तो वस्तु चाहे छोटी हो या बड़ी हो, साधारण हो या कीमती हो, उसको भगवान्के अर्पण करनेमें भक्तको बड़ा आनन्द आता है। उसका भाव यह रहता है कि वस्तुमात्र भगवान्की ही है। मेरेको भगवान्ने सेवा-पूजाका अवसर दे दिया है—यह मेरेपर भगवान्की विशेष कृपा हो गयी है! इस कृपाको देख-देखकर वह प्रसन्न होता रहता है।

भावपूर्वक लगाये हुए भोगको भगवान् अवश्य स्वीकार करते हैं, चाहे हमें दीखे या न दीखे। इस विषयमें एक आचार्य कहते थे कि हमारे मन्दिरमें दीवालीसे होलीतक अर्थात् सरदीके दिनोंमें ठाकुरजीको पिस्ता, बादाम, अखरोट, काजू, चिरौंजी आदिका भोग लगाया जाता था; परन्तु जब यह बहुत मँहगा हो गया, तब हमने मूँगफलीका भोग

लगाना शुरू कर दिया। एक दिन रातमें ठाकुरजीने स्वप्नमें कहा—‘अरे यार! तू मूँगफली ही खिलायेगा क्या?’ उस दिनके बाद फिर मेवाका भोग लगाना शुरू कर दिया। उनको यह विश्वास हो गया कि जब ठाकुरजीको भोग लगाते हैं, तब वे उसे अवश्य स्वीकार करते हैं।

भोग लगानेपर जिन वस्तुओंको भगवान् स्वीकार कर लेते हैं, उन वस्तुओंमें विलक्षणता आ जाती है अर्थात् उन वस्तुओंमें स्वाद बढ़ जाता है, उनमें सुगन्ध आने लगती है; उनको खानेपर विलक्षण तृप्ति होती है, वे चीजें कितने ही दिनोंतक पड़ी रहनेपर भी खराब नहीं होतीं; आदि-आदि। परन्तु यह कसौटी नहीं है कि ऐसा होता ही है। कभी भक्तका ऐसा भाव बन जाय तो भोग लगायी हुई वस्तुओंमें ऐसी विलक्षणता आ जाती है—ऐसा हमने सन्तोंसे सुना है।

मनुष्य जब पदार्थोंकी आहुति देते हैं तो वह यज्ञ हो जाता है; चीजोंको दूसरोंको दे देते हैं तो वह दान कहलाता है, संयमपूर्वक अपने काममें न लेनेसे वह तप हो जाता है और भगवान्के अर्पण करनेसे भगवान्के साथ योग (सम्बन्ध) हो जाता है—ये सभी एक ‘त्याग’के ही अलग-अलग नाम हैं।

**परिशिष्ट भाव**—देवताओंकी उपासनामें तो अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है (गीता—सातवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक); परन्तु भगवान्की उपासनामें कोई नियम नहीं है। भगवान्की उपासनामें प्रेमकी, अपनेपनकी प्रधानता है, विधिकी नहीं—‘भक्त्या प्रयच्छति’, ‘भक्त्युपहृतम्’।

जैसे भोला बालक जो कुछ हाथमें आये, उसको मुँहमें डाल लेता है, ऐसे ही भोले भक्त भगवान्को जो भी अर्पण करते हैं, उसको भगवान् भी भोले बनकर खा लेते हैं—‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्’ (गीता ४। ११); जैसे—विदुरानीने केलेका छिलका दिया तो भगवान्ने उसको ही खा लिया!

‘भक्त्या प्रयच्छति’ का तात्पर्य है कि भक्त वस्तुको प्रेमपूर्वक भगवान्के अर्पण करता है, किसी कामनासे नहीं। देवताओंकी उपासनामें तो वस्तुविशेषकी आवश्यकता होती है, पर भगवान्की उपासनामें वस्तुविशेषकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत प्रेमकी आवश्यकता है।

सम्बन्ध—संसारमात्रके दो रूप हैं—पदार्थ और क्रिया। इनमें आसक्ति होनेसे ये दोनों ही पतन करनेवाले होते हैं। अतः ‘पदार्थ’ अर्पण करनेकी बात पूर्वश्लोकमें कह दी और अब आगेके श्लोकमें ‘क्रिया’ अर्पण करनेकी बात कहते हैं।

**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**

**यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥**

कौन्तेय = हे कुन्तीपुत्र! (तू)  
यत् = जो कुछ  
करोषि = करता है,  
यत् = जो कुछ  
अश्नासि = भोजन करता है,

यत् = जो कुछ  
जुहोषि = यज्ञ करता है,  
यत् = जो कुछ  
ददासि = दान देता है  
(और)

यत् = जो कुछ  
तपस्यसि = तप करता है,  
तत् = वह (सब)  
मदर्पणम् = मेरे अर्पण  
कुरुष्व = कर दे।

**व्याख्या**—[ भगवान्का यह नियम है कि जो जैसे मेरी शरण लेते हैं, मैं वैसे ही उनको आश्रय देता हूँ (गीता—चौथे अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। जो भक्त अपनी वस्तु मेरे अर्पण करता है, मैं उसे अपनी वस्तु देता हूँ। भक्त तो सीमित ही वस्तु देता है, पर मैं अनन्त गुणा करके देता हूँ। परन्तु जो अपने-आपको ही मुझे दे देता है, मैं अपने-आपको उसे दे देता हूँ। वास्तवमें मैंने अपने-आपको संसारमात्रको दे रखा है (गीता—नवें अध्यायका चौथा श्लोक), और सबको सब कुछ करनेकी स्वतन्त्रता दे रखी है। अगर मनुष्य मेरी दी हुई स्वतन्त्रताको मेरे अर्पण कर देता है, तो मैं भी अपनी स्वतन्त्रताको उसके अर्पण कर देता हूँ अर्थात् मैं उसके अधीन हो जाता हूँ। इसलिये यहाँ भगवान् उस स्वतन्त्रताको अपने अर्पण करनेके लिये अर्जुनसे कहते हैं।]

**‘यत्करोषि’**—यह पद ऐसा विलक्षण है कि इसमें शास्त्रीय, शारीरिक, व्यावहारिक, सामाजिक, पारमार्थिक आदि यावन्मात्र क्रियाएँ आ जाती हैं। भगवान् कहते हैं कि तू इन सम्पूर्ण क्रियाओंको मेरे अर्पण कर दे अर्थात् तू खुद ही मेरे अर्पित हो जा, तो तेरी सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वतः मेरे अर्पित हो जायँगी।

अब आगे भगवान् उन्हीं क्रियाओंका विभाग करते हैं—

**‘यदश्नासि’**—इस पदके अन्तर्गत सम्पूर्ण शारीरिक क्रियाएँ लेनी चाहिये अर्थात् शरीरके लिये तू जो भोजन करता है, जल पीता है, कुपथ्यका त्याग और पथ्यका सेवन करता है, ओषधि-सेवन करता है, कपड़ा पहनता है, सरदी-गरमीसे शरीरकी रक्षा करता है, स्वास्थ्यके लिये समयानुसार सोता और जागता है, घूमता-फिरता है, शौच-स्नान करता है, आदि सभी क्रियाओंको तू मेरे अर्पण कर दे।

यह शारीरिक क्रियाओंका पहला विभाग है।

**‘यज्जुहोषि’**—इस पदमें यज्ञ-सम्बन्धी सभी क्रियाएँ आ जाती हैं अर्थात् शाकल्य-सामग्री इकट्ठी करना, अग्नि प्रकट करना, मन्त्र पढ़ना, आहुति देना आदि सभी शास्त्रीय क्रियाएँ मेरे अर्पण कर दे।

**‘ददासि यत्’**—तू जो कुछ देता है अर्थात् दूसरोंकी सेवा करता है, दूसरोंकी सहायता करता है, दूसरोंकी आवश्यकता-पूर्ति करता है, आदि जो कुछ शास्त्रीय क्रिया करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।

**‘यत्तपस्यसि’**—तू जो कुछ तप करता है अर्थात्

विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंका संयम करता है, अपने कर्तव्यका पालन करते हुए अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंको प्रसन्नतापूर्वक सहता है और तीर्थ, व्रत, भजन-ध्यान, जप-कीर्तन, श्रवण-मनन, समाधि आदि जो कुछ पारमार्थिक क्रिया करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।

उपर्युक्त तीनों पद शास्त्रीय और पारमार्थिक क्रियाओंका दूसरा विभाग है।

**‘तत्कुरुष्व मदर्पणम्’**—यहाँ भगवान्ने परस्मैपदी ‘कुरु’ क्रियापद न देकर आत्मनेपदी ‘कुरुष्व’ क्रियापद दिया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तू सब कुछ मेरे अर्पण कर देगा, तो मेरी कमीकी पूर्ति हो जायगी—यह बात नहीं है; किन्तु सब कुछ मेरे अर्पण करनेपर तेरे पास कुछ नहीं रहेगा अर्थात् तेरा ‘मैं’ और ‘मेरा’-पन सब खत्म हो जायगा, जो कि बन्धनकारक है। सब कुछ मेरे अर्पण करनेके फलस्वरूप तेरेको पूर्णताकी प्राप्ति हो जायगी अर्थात् जिस लाभसे बढ़कर दूसरा कोई लाभ सम्भव ही नहीं है और जिस लाभमें स्थित होनेपर बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता अर्थात् जहाँ दुःखोंके संयोगका ही अत्यन्त वियोग है (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ-तेईसवाँ श्लोक)—ऐसा लाभ तेरेको प्राप्त हो जायगा।

इस श्लोकमें ‘यत्’ पद पाँच बार कहनेका तात्पर्य है कि एक-एक क्रिया अर्पण करनेका भी अपार माहात्म्य है, फिर सम्पूर्ण क्रियाएँ अर्पण की जायँ, तब तो कहना ही क्या है!

### विशेष बात

छब्बीसवें श्लोकमें तो भगवान्ने पत्र, पुष्प आदि अर्पण करनेकी बात कही, जो कि अनायास अर्थात् बिना परिश्रमके प्राप्त होते हैं। परन्तु इसमें कुछ-न-कुछ उद्योग तो करना ही पड़ेगा अर्थात् सुगम-से-सुगम वस्तुको भी भगवान्के अर्पण करनेका नया उद्योग करना पड़ेगा। परन्तु इस सत्ताईसवें श्लोकमें भगवान्ने उससे भी विलक्षण बात बतायी है कि कोई नये पदार्थ नहीं देने हैं, कोई नयी क्रिया नहीं करनी है और कोई नया उद्योग भी नहीं करना है, प्रत्युत हमारे द्वारा जो लौकिक, पारमार्थिक आदि स्वाभाविक क्रियाएँ होती हैं, उनको भगवान्के अर्पण कर देना है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्के लिये किसी वस्तु और क्रियाविशेषको अर्पण करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत खुदको ही अर्पित करनेकी जरूरत है। खुद अर्पित होनेसे

सब क्रियाएँ स्वाभाविक भगवान्के अर्पण हो जायँगी, भगवान्की प्रसन्नताका हेतु हो जायँगी। जैसे बालक अपनी माँके सामने खेलता है, कभी दौड़कर दूर चला जाता है और फिर दौड़कर गोदमें आ जाता है, कभी पीठपर चढ़ जाता है, आदि जो कुछ क्रिया बालक करता है, उस क्रियासे माँ प्रसन्न होती है। माँकी इस प्रसन्नतामें बालकका माँके प्रति अपनेपनका भाव ही हेतु है। ऐसे ही शरणागत भक्तका भगवान्के प्रति अपनेपनका भाव होनेसे भक्तकी प्रत्येक क्रियासे भगवान्को प्रसन्नता होती है।

यहाँ 'करोषि' क्रियाके साथ सामान्य 'यत्' पद होनेसे अर्थात् 'तू जो कुछ करता है'—ऐसा कहनेसे निषिद्ध क्रिया भी आ सकती है। परन्तु अन्तमें 'तत्कुरुष्व मदर्पणम्' 'वह मेरे अर्पण कर दे'—ऐसा आया है। अतः जो चीज या क्रिया भगवान्के अर्पण की जायगी, वह भगवान्की आज्ञाके

अनुसार, भगवान्के अनुकूल ही होगी। जैसे किसी त्यागी पुरुषको कोई वस्तु दी जायगी तो उसके अनुकूल ही दी जायगी, निषिद्ध वस्तु नहीं दी जायगी। ऐसे ही भगवान्को कोई वस्तु या क्रिया अर्पण की जायगी तो उनके अनुकूल, विहित वस्तु या क्रिया ही अर्पण की जायगी, निषिद्ध नहीं। कारण कि जिसका भगवान्के प्रति अर्पण करनेका भाव है, उसके द्वारा न तो निषिद्ध क्रिया होनेकी सम्भावना है और न निषिद्ध क्रिया अर्पण करनेकी ही सम्भावना है।

अगर कोई कहे कि 'हम तो चोरी आदि निषिद्ध क्रिया भी भगवान्के अर्पण करेंगे' तो यह नियम है कि भगवान्को दिया हुआ अनन्त गुणा हो करके मिलता है। इसलिये अगर चोरी आदि निषिद्ध क्रिया भगवान्के अर्पण करोगे, तो उसका फल भी अनन्त गुणा हो करके मिलेगा अर्थात् उसका सांगोपांग दण्ड भोगना ही पड़ेगा!

**परिशिष्ट भाव**—आदरपूर्वक देना और उसीकी वस्तु उसीको देना 'अर्पण' कहलाता है। भगवान्ने पदार्थोंको तो देनेकी बात बतायी है—'प्रयच्छति' और क्रियाओंको अर्पण करनेकी बात बतायी है—'तत्कुरुष्व मदर्पणम्'; क्योंकि क्रियाएँ दी नहीं जातीं।

ज्ञानयोगी तो संसारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करता है, पर भक्त एक भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ता मानता ही नहीं। दूसरे शब्दोंमें, ज्ञानयोगी 'मैं' और 'मेरा'का त्याग करता है तथा भक्त 'तू' और 'तेरा'को स्वीकार करता है। इसलिये ज्ञानयोगी पदार्थ और क्रियाका 'त्याग' करता है तथा भक्त पदार्थ और क्रियाको भगवान्के 'अर्पण' करता है अर्थात् उनको अपना न मानकर भगवान्का और भगवत्स्वरूप मानता है।

जिस वस्तुमें मनुष्यकी सत्यत्व एवं महत्त्वबुद्धि होती है, उसको मिथ्या समझकर यों ही त्याग देनेकी अपेक्षा किसी व्यक्तिके अर्पण कर देना, उसकी सेवामें लगा देना सुगम पड़ता है। फिर जो परम श्रद्धास्पद, परम प्रेमास्पद भगवान् हैं, उनको अर्पण करनेकी सुगमताका तो कहना ही क्या है! दूसरी बात, त्यागीको त्यागका अभिमान भी आ सकता है, पर अर्पण करनेवालेको अभिमान नहीं आ सकता; क्योंकि जिसकी वस्तु है, उसीको देनेसे अभिमान कैसे आयेगा? 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'। सम्पूर्ण वस्तुएँ (मात्र संसार) सदासे ही भगवान्की हैं। उनको भगवान्के अर्पण करना केवल अपनी भूल (उनको अपना मान लिया—यह भूल) मिटाना है। भूल मिटनेपर अभिमान नहीं होता, प्रत्युत प्रसन्नता होती है।

संसारको भगवान्का मानते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् संसार लुप्त हो जाता है, संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती (जो वास्तवमें है ही नहीं), प्रत्युत भगवान् ही रह जाते हैं (जो वास्तवमें हैं)। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये भक्तको विवेककी जरूरत नहीं है। वह संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद (त्याग) नहीं करता, प्रत्युत उसको भगवान्का और भगवत्स्वरूप मानता है; क्योंकि अपरा प्रकृति भगवान्की ही है (गीता—सातवें अध्यायका चौथा श्लोक)।

सम्बन्ध—पीछेके दो श्लोकोंमें पदार्थों और क्रियाओंको भगवान्के अर्पण करनेका वर्णन करके अब आगेके श्लोकमें उस अर्पणका फल बताते हैं।

**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।  
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥**

एवम् = इस प्रकार ( मेरे अर्पण करनेसे)	(निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे	सब कुछ मेरे अर्पण करनेवाला ( और )
कर्मबन्धनैः = कर्मबन्धनसे ( और )	मोक्ष्यसे = (तू) मुक्त हो जायगा।	विमुक्तः = सबसे सर्वथा मुक्त हुआ (तू)
शुभाशुभफलैः = शुभ (विहित) और अशुभ	संन्यासयोग-युक्तात्मा = ऐसे अपनेसहित	माम् = मुझे उपैष्यसि = प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या—‘शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः’—पूर्वोक्त प्रकारसे सब पदार्थ और क्रियाएँ मेरे अर्पण करनेसे अर्थात् तेरे स्वयंके मेरे अर्पित हो जानेसे अनन्त जन्मोंके जो शुभ-अशुभ कर्मोंके फल हैं, उन सबसे तू मुक्त हो जायगा। वे कर्मफल तेरेको जन्म-मरण देनेवाले नहीं होंगे।

यहाँ शुभ और अशुभ कर्मोंसे अनन्त जन्मोंके किये हुए संचित शुभ-अशुभ कर्म लेने चाहिये। कारण कि भक्त वर्तमानमें भगवदाज्ञाके अनुसार किये हुए कर्म ही भगवान्को अर्पण करता है। भगवदाज्ञाके अनुसार किये हुए कर्म शुभ ही होते हैं, अशुभ होते ही नहीं। हाँ, अगर किसी रीतिसे, किसी परिस्थितिके कारण, किसी पूर्वाभ्यासके प्रवाहके कारण भक्तके द्वारा कदाचित् किंचिन्मात्र भी कोई आनुषंगिक अशुभकर्म बन जाय, तो उसके हृदयमें विराजमान भगवान् उस अशुभकर्मको नष्ट कर देते हैं<sup>१</sup>।

जितने भी कर्म किये जाते हैं, वे सभी बाह्य होते हैं अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिके द्वारा ही होते हैं। इसलिये उन शुभ और अशुभकर्मोंका अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें जो फल आता है, वह भी बाह्य ही होता है। मनुष्य भूलसे उन परिस्थितियोंके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर सुखी-दुःखी होता रहता है। यह सुखी-दुःखी होना ही कर्मबन्धन है और इसीसे वह जन्मता-मरता है। परन्तु भक्तकी दृष्टि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंपर न रहकर भगवान्की कृपापर रहती है अर्थात् भक्त उनको भगवान्का विधान ही मानता है, कर्मोंका फल मानता ही नहीं। इसलिये वह अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

‘संन्यासयोगयुक्तात्मा’—सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्के अर्पण करनेका नाम ‘संन्यासयोग’ है। इस संन्यासयोग

अर्थात् समर्पणयोगसे युक्त होनेवालेको यहाँ ‘संन्यासयोगयुक्तात्मा’ कहा गया है। ऐसे तो गीतामें बहुत जगह ‘संन्यास’ शब्द सांख्ययोगका वाचक आता है, पर इसका प्रयोग भक्तिमें भी होता है; जैसे—‘मयि संन्यस्य’ (१८। ५७)।

जैसे सांख्ययोगी सम्पूर्ण कर्मोंको मनसे नवद्वारवाले शरीरमें रखकर स्वयं सुखपूर्वक अपने स्वरूपमें स्थित रहता है (गीता—पाँचवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक), ऐसे ही भक्त कर्मोंके साथ अपने माने हुए सम्बन्धको भगवान्में रख देता है। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे कोई सज्जन अपनी धरोहरको कहीं रख देता है, ऐसे ही भक्त अपनेसहित अनन्त जन्मोंके संचित कर्मोंको, उनके फलोंको और उनके सम्बन्धको भगवान्में रख देता है। इसलिये इसको ‘संन्यासयोग’ कहा गया है।

‘विमुक्तो मामुपैष्यसि’—पूर्वश्लोकमें ‘तत्कुरुष्व मदर्पणम्’ कहकर अर्पण करनेकी आज्ञा दी। यहाँ कहते हैं कि ‘इस प्रकार अर्पण करनेसे तू शुभ-अशुभ कर्मफलोंसे मुक्त हो जायगा। शुभ-अशुभ कर्मफलोंसे मुक्त होनेपर तू मेरेको प्राप्त हो जायगा।’ तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण कर्मफलोंसे मुक्त होना तो प्रेम-प्राप्तिका साधन है और भगवान्की प्राप्ति होना प्रेमकी प्राप्ति है।

### विशेष बात

शुभ<sup>२</sup> और अशुभ कर्मोंका बन्धन क्या है?

शुभ अथवा अशुभ किसी भी कर्मको किया जाय, उस कर्मका आरम्भ और अन्त होता है। ऐसे ही उन कर्मोंके फलस्वरूपमें जो परिस्थिति आती है, उसका भी संयोग और वियोग होता है। तात्पर्य यह हुआ कि जब कर्म और उनके फल निरन्तर नहीं रहते, तो फिर उनके साथ सम्बन्ध निरन्तर कैसे रह सकता है? परन्तु जब कर्ता (कर्म करनेवाला)

१-विकर्म यच्चोत्पत्तितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥ ( श्रीमद्भा० ११। ५। ४२ )

२-जैसे अशुभकर्म बन्धनकारक हैं, ऐसे ही शुभकर्म भी बन्धनकारक हैं। जैसे, बेड़ी लोहेकी हो चाहे सोनेकी, पर बन्धन दोनोंसे ही होता है। शुभकर्म भी जन्मारम्भक होनेसे बन्धनकारक होता है और अशुभकर्म तो जबर्दस्ती बाँधनेवाला होता ही है।

कर्मोंके साथ अपनापन कर लेता है, तब उसका फलके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। यद्यपि कर्म और फलके साथ सम्बन्ध कभी रह नहीं सकता, तथापि कर्ता उस सम्बन्धको अपनेमें मान लेता है। कर्ता स्वयं (स्वरूपसे) नित्य है, इसलिये उस सम्बन्धको अपनेमें स्वीकार करनेसे वह सम्बन्ध भी नित्य प्रतीत होने लगता है।

कर्ता शुभकर्मोंका फल चाहता है, जो कि अनुकूल परिस्थितिके रूपमें सामने आता है। उस परिस्थितिमें यह सुख मानता है। जबतक इस सुखकी चाहना रहती है, तबतक वह दुःखसे बच नहीं सकता। कारण कि सुखके आदिमें और अन्तमें दुःख ही रहता है तथा सुखसे भी प्रतिक्षण स्वाभाविक वियोग होता रहता है। जिसके वियोगको यह प्राणी नहीं चाहता, उसका वियोग तो हो ही जाता है, यह नियम है। तात्पर्य यह हुआ कि सुखकी इच्छाको यह नहीं छोड़ता और दुःख इसको नहीं छोड़ता।

जीव जब अपने-आपको प्रभुके समर्पित कर देता है, तब (साक्षात् परमात्माका ही अंश होनेसे) इसकी परमात्माके साथ स्वतः अभिन्नता हो जाती है; और शरीरके साथ भूलसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है। यह परमात्माके साथ अभिन्न तो पहलेसे ही था। केवल अपने लिये कर्म करनेसे इस अभिन्नताका अनुभव नहीं होता था। अब अपनेसहित कर्मोंको भगवान्के अर्पण करनेसे उसकी अपने लिये कर्म करनेकी मान्यता मिट जाती है, तो उसको स्वाभाविक प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। इसीको भगवान्ने

यहाँ 'विमुक्तो मामुपैष्यसि' कहा है।

जब यह जीव अपने-आपको भगवान्के समर्पित कर देता है तो फिर उसके सामने जो कुछ अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब दया और कृपाके रूपमें परिणत हो जाती है। तात्पर्य है कि जब उसके सामने अनुकूल परिस्थिति आती है, तब वह उसमें भगवान्की 'दया' को मानता है और जब प्रतिकूल परिस्थिति आती है, तब वह उसमें भगवान्की 'कृपा' को मानता है। दया और कृपामें भेद यह है कि कभी भगवान् प्यार, स्नेह करके जीवको कर्मबन्धनसे मुक्त करते हैं—यह 'दया' है और कभी शासन करके, ताड़ना करके उसके पापोंका नाश करते हैं—यह 'कृपा' है। इस प्रकार दया और कृपा करके भगवान् भक्तको सबल, सहिष्णु बनाते हैं। परन्तु भक्त तो दोनोंमें ही प्रसन्न रहता है। कारण कि उसकी दृष्टि अनुकूलता-प्रतिकूलताकी तरफ न रहकर केवल भगवान्की तरफ ही रहती है। अतः उसकी दृष्टिमें भगवान्की दया और कृपा दो रूपसे नहीं होती, प्रत्युत एक ही रूपसे होती है। जैसा कि कहा है—

**लालने ताडने मातुर्नारुण्यं यथार्भके ।**

**तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः ॥**

'जिस प्रकार बालकका पालन करने और ताड़ना करने—दोनोंमें माँकी कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

**परिशिष्ट भाव—**भगवान्ने 'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्' (१। २५) से जो बात कहनी आरम्भ की थी, उसीका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको अपनेसहित मेरे अर्पण करनेसे तू कर्मबन्धनसे तथा शुभ-अशुभ दोनों कर्मोंके फलोंसे मुक्त होकर मेरेको ही प्राप्त हो जायगा।

'कर्म' भी शुभ-अशुभ होते हैं और 'फल' भी शुभ-अशुभ होता है। दूसरोंके हितके लिये करना 'शुभकर्म' है और अपने लिये करना 'अशुभकर्म' है। अनुकूल परिस्थिति 'शुभ फल' है और प्रतिकूल परिस्थिति 'अशुभ फल' है। भगवान्का भक्त शुभकर्मोंको भगवान्के अर्पण कर देता है, अशुभकर्म करता ही नहीं और शुभ-अशुभ फलसे अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी नहीं होता। उसके अनन्त जन्मोंके संचित शुभाशुभ-कर्म भस्म हो जाते हैं; जैसे—जलता हुआ घासका टुकड़ा फेंकनेसे सब घास जल जाता है!

भगवान्के अर्पण करनेसे संसारका सम्बन्ध (गुणसंग) नहीं रहता, केवल भगवान्का सम्बन्ध रह जाता है, जो कि स्वतः पहलेसे ही है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता १५। ७)। जो अपना नहीं है, उसको अपना माननेसे सिवाय बन्धनके कुछ नहीं होता। अपना माननेसे वस्तु तो रहती नहीं, केवल बन्धन रह जाता है। भक्तका किसी भी वस्तु, व्यक्ति और क्रियामें अपनापन न रहनेसे वह 'विमुक्त' हो जाता है।

यहाँ समर्पणयोगको 'संन्यासयोग' नामसे कहा गया है।

'मामुपैष्यसि' पदका तात्पर्य है कि भक्त भगवान्से अभिन्न हो जाता है, उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता ७। १८)। इसीको प्रेमाद्वैत कहा गया है।

सम्बन्ध—अब एक शंका होती है कि जो भगवान्‌के समर्पित होते हैं, उनको तो भगवान् मुक्त कर देते हैं और जो भगवान्‌के समर्पित नहीं होते, उनको भगवान् मुक्त नहीं करते—इसमें तो भगवान्‌की दयालुता और समता नहीं हुई, प्रत्युत विषम-दृष्टि और पक्षपात हुआ? इसपर कहते हैं—

**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।  
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥**

अहम्	= मैं	अस्ति	= है (और)	भजन्ति	= भजन करते हैं,
सर्वभूतेषु	= सम्पूर्ण प्राणियोंमें	न	= न कोई	ते	= वे
समः	= समान हूँ।	प्रियः	= प्रिय है।	मयि	= मुझमें हैं
न	= (उन प्राणियोंमें) न तो कोई	तु	= परन्तु	च	= और
मे	= मेरा	ये	= जो	अहम्	= मैं
द्वेष्यः	= द्वेषी	भक्त्या	= प्रेमपूर्वक	अपि	= भी
		माम्	= मेरा	तेषु	= उनमें हूँ। <sup>१</sup>

व्याख्या—‘समोऽहं सर्वभूतेषु’—मैं स्थावर-जंगम आदि सम्पूर्ण प्राणियोंमें व्यापकरूपसे और कृपा-दृष्टिसे सम हूँ। तात्पर्य है कि मैं सबमें समानरूपसे व्यापक, परिपूर्ण हूँ—‘मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना’ (गीता ९।४), और मेरी सबपर समानरूपसे कृपादृष्टि है—‘सुहृदं सर्वभूतानाम्’ (गीता ५।२९)।

मैं कहीं कम हूँ और कहीं अधिक हूँ अर्थात् चींटी छोटी होनेसे उसमें कम हूँ और हाथी बड़ा होनेसे उसमें अधिक हूँ; अन्त्यजमें कम हूँ और ब्राह्मणमें अधिक हूँ; जो मेरे प्रतिकूल चलते हैं, उनमें मैं कम हूँ और जो मेरे अनुकूल चलते हैं, उनमें मैं अधिक हूँ—यह बात है ही नहीं। कारण कि सब-के-सब प्राणी मेरे अंश हैं, मेरे स्वरूप हैं। मेरे स्वरूप होनेसे वे मेरेसे कभी अलग नहीं हो सकते और मैं भी उनसे कभी अलग नहीं हो सकता। इसलिये मैं सबमें समान हूँ, मेरा कहीं कोई पक्षपात नहीं है। तात्पर्य यह हुआ कि प्राणियोंमें जन्मसे, कर्मसे, परिस्थितिसे, घटनासे, संयोग, वियोग आदिसे अनेक तरहसे विषमता होनेपर भी मैं सर्वथा-सर्वदा सबमें समान रीतिसे व्यापक हूँ, कहीं कम और कहीं ज्यादा नहीं हूँ।

‘न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः’<sup>२</sup>—पहले भगवान्‌ने कहा कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ, अब उसीका विवेचन करते हुए कहते हैं कि कोई भी प्राणी मेरे राग-द्वेषका

विषय नहीं है। तात्पर्य है कि मेरेसे विमुख होकर कोई प्राणी शास्त्रीय यज्ञ, दान आदि कितने ही शुभकर्म करे, तो भी वह मेरे ‘राग’ का विषय नहीं है और दूसरा शास्त्रनिषिद्ध अन्याय, अत्याचार आदि कितने ही अशुभकर्म करे, तो भी वह मेरे ‘द्वेष’ का विषय नहीं है। कारण कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान रीतिसे व्याप्त हूँ, सबपर मेरी समान रीतिसे कृपा है और सब प्राणी मेरे अंश होनेसे मेरेको समान रीतिसे प्यारे हैं। हाँ, यह बात जरूर है कि जो सकामभावपूर्वक शुभकर्म करेगा, वह ऊँची गतिमें जायगा और जो अशुभ-कर्म करेगा, वह नीची गतिमें अर्थात् नरकों तथा चौरासी लाख योनियोंमें जायगा। परन्तु वे दोनों पुण्यात्मा और पापात्मा होनेपर भी मेरे राग-द्वेषके विषय नहीं हैं।

मेरे रचे हुए पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये भौतिक पदार्थ भी प्राणियोंके अच्छे-बुरे आचरणों तथा भावोंको लेकर उनको रहनेका स्थान देनेमें, उनकी प्यास बुझानेमें, उनको प्रकाश देनेमें, उनको चलने-फिरनेके लिये अवकाश देनेमें राग-द्वेषपूर्वक विषमता नहीं करते, प्रत्युत सबको समान रीतिसे देते हैं। फिर प्राणी अपने अच्छे-बुरे आचरणोंको लेकर मेरे राग-द्वेषके विषय कैसे बन सकते हैं? अर्थात् नहीं बन सकते। कारण कि वे साक्षात् मेरे ही अंश हैं, मेरे ही स्वरूप हैं।

जैसे, किसी व्यक्तिके एक हाथमें पीड़ा हो रही है, वह

१-इस श्लोकके दो विभाग हैं—पूर्वार्धमें तो भजन न करनेवालोंका वर्णन है और उत्तरार्धमें भजन करनेवालोंका वर्णन है।

२-यहाँ ‘प्रिय’ शब्दको रागका ही वाचक मानना चाहिये; क्योंकि प्राणिमात्रपर भगवान्‌की समान रीतिसे प्रियता है—‘सब मम प्रिय सब मम उपजाए’ (मानस ७।८६।२); अतः भगवान् इसका निषेध कैसे कर सकते हैं? दूसरी बात, ‘द्वेष्य’ शब्दके साथ ‘राग’ शब्द ही ठीक बैठ सकता है; क्योंकि राग और द्वेष—यह द्वन्द्व है। इसी द्वन्द्वका यहाँ निषेध किया गया है।



हाथ शरीरके किसी काममें नहीं आता, दर्द होनेसे रातमें नींद नहीं लेने देता, काम करनेमें बाधा डालता है और दूसरा हाथ सब प्रकारसे शरीरके काम आता है। परन्तु उस व्यक्तिका किसी हाथके प्रति राग या द्वेष नहीं होता कि यह तो अच्छा है और यह मन्दा है; क्योंकि दोनों ही हाथ उसके अंग हैं और अपने अंगके प्रति किसीके राग-द्वेष नहीं होते। ऐसे ही कोई मेरे वचनों, सिद्धान्तोंके अनुसार चलनेवाला हो, पुण्यात्मा-से-पुण्यात्मा हो और दूसरा कोई मेरे वचनों, सिद्धान्तोंका खण्डन करनेवाला हो, मेरे विरुद्ध चलनेवाला हो, पापी-से-पापी हो, तो उन दोनोंको लेकर मेरे राग-द्वेष नहीं होते। उनके अपने-अपने बर्तावोंमें, आचरणोंमें भेद है, इसलिये उनके परिणाम-(फल-) में भेद होगा, पर मेरा किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं है। अगर किसीके प्रति राग-द्वेष होता; तो 'समोऽहं सर्वभूतेषु' यह कहना ही नहीं बनता; क्योंकि विषमताके कारण ही राग-द्वेष होते हैं।

'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'— परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं अर्थात् जिनकी संसारमें आसक्ति, राग, खिंचाव नहीं है, जो केवल मेरेको ही अपना मानते हैं, केवल मेरे ही परायण रहते हैं, केवल मेरी प्रसन्नताके लिये ही रात-दिन काम करते हैं और जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वाणीके द्वारा मेरी तरफ ही चलते हैं (गीता—नवें अध्यायका चौदहवाँ और दसवें अध्यायका नवाँ श्लोक), वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ।

प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो सामान्य जीव हैं तथा मेरी आज्ञाके विरुद्ध चलनेवाले हैं, वे मेरेमें और मैं उनमें नहीं हूँ, प्रत्युत वे अपनेको मेरेमें मानते ही नहीं। वे ऐसा कह देते हैं कि हम तो संसारी जीव हैं, संसारमें रहनेवाले हैं! वे यह नहीं समझते कि संसार, शरीर तो कभी एकरूप, एकरस रहता ही नहीं, तो ऐसे संसार, शरीरमें हम कैसे स्थित रह सकते हैं? इसको न जाननेके कारण ही वे अपनेको संसार, शरीरमें स्थित मानते हैं। उनकी अपेक्षा जो रात-दिन मेरे भजन-स्मरणमें लगे हुए हैं, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया आदिमें और अपने-आपमें भी मेरेको ही मानते हैं, वे मेरेमें विशेषरूपसे

हैं और मैं उनमें विशेषरूपसे हूँ।

दूसरा भाव यह है कि जो मेरे साथ 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं' ऐसा सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, उनकी मेरे साथ इतनी घनिष्ठता हो जाती है कि मैं और वे एक हो जाते हैं—'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' (नारदभक्तिसूत्र ४१)। इसलिये वे मेरेमें और मैं उनमें हूँ।

तीसरा भाव यह है कि उनमें 'मैं'-पन नहीं रहता; क्योंकि 'मैं'-पन एक परिच्छिन्नता है। इस परिच्छिन्नता-(एक-देशीयता-) के मिटनेसे वे मेरेमें ही रहते हैं।

अब कोई भगवान्से कहे कि आप भक्तोंमें विशेषतासे प्रकट हो जाते हैं और दूसरोंमें कमरूपसे प्रकट होते हैं—यह आपकी विषमता क्यों? तो भगवान् कहते हैं कि भैया! मेरेमें यह विषमता तो भक्तोंके कारण है। अगर कोई मेरा भजन करे, मेरे परायण हो जाय, शरण हो जाय और मैं उससे विशेष प्रेम न करूँ, उसमें विशेषतासे प्रकट न होऊँ; तो यह मेरी विषमता हो जायगी। कारण कि भजन करनेवाले और भजन न करनेवाले—दोनोंमें मैं बराबर ही रहूँ, तो यह न्याय नहीं होगा; प्रत्युत मेरी विषमता होगी। इससे भक्तोंके भजनका और उनका मेरी तरफ लगनेका कोई मूल्य ही नहीं रहेगा। यह विषमता मेरेमें न आ जाय, इसलिये जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनको आश्रय देता हूँ—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४। ११)। अतः यह विषमता मेरेमें भक्तोंके भावोंको लेकर ही है।\*

जैसे, कोई पुत्र अच्छा काम करता है तो सुपुत्र कहलाता है और खराब काम करता है तो कुपुत्र कहलाता है। यह सुपुत्र-कुपुत्रका भेद तो उनके आचरणोंके कारण हुआ है। माँ-बापके पुत्रभावमें कोई फरक नहीं पड़ता। गायके थनोंमें चींचड़ रहते हैं, वे दूध न पीकर खून पीते हैं, तो यह विषमता गायकी नहीं है, प्रत्युत चींचड़ोंकी अपनी बनायी हुई है। बिजलीके द्वारा कहीं बर्फ जम जाती है और कहीं आग पैदा हो जाती है, तो यह विषमता बिजलीकी नहीं है, प्रत्युत यन्त्रोंकी है। ऐसे ही जो भगवान्में रहते हुए भी भगवान्को नहीं मानते, उनका भजन नहीं करते, तो यह विषमता उन प्राणियोंकी ही है, भगवान्की नहीं। जैसे लकड़ीका टुकड़ा,

\* तदपि करहिं सम विषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसार॥ (मानस २। २१९। ३)

केवल भगवान्में ही नहीं, प्रत्युत जीवन्मुक्त श्रेष्ठ महापुरुषोंमें भी सामनेवालेके गुणों, भावों, आचरणों आदिको लेकर पक्षपात हो जाता है—

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः॥ (किराता० ३। १२)

काँचका टुकड़ा और आतशी शीशा—इन तीनोंमें सूर्यकी कोई विषमता नहीं है; परन्तु सूर्यके सामने (धूपमें) रखनेपर लकड़ीका टुकड़ा सूर्यकी किरणोंको रोक देता है, काँचका टुकड़ा किरणोंको नहीं रोकता और आतशी शीशा किरणोंको एक जगह केन्द्रित करके अग्नि प्रकट कर देता है। तात्पर्य है कि यह विषमता सामने आनेवाले पदार्थोंकी है, सूर्यकी नहीं। सूर्यकी किरणें तो सबपर एक समान ही पड़ती हैं। वे पदार्थ उन किरणोंको जितनी पकड़ लेते हैं, उतनी ही वे किरणें उनमें प्रकट हो जाती हैं। ऐसे ही भगवान् सब प्राणियोंमें समानरूपसे व्यापक हैं, परिपूर्ण हैं। परन्तु जो प्राणी भगवान्के सम्मुख हो जाते हैं, भगवान्का और भगवान्की कृपाका प्राकट्य उनमें विशेषतासे हो जाता है। उनकी भगवान्में जितनी अधिक प्रियता होती है, भगवान्की भी उतनी ही अधिक प्रियता प्रकट हो जाती है। वे अपने-आपको भगवान्को दे देते हैं, तो भगवान् भी अपने-आपको उनको दे देते हैं। इस प्रकार भक्तोंके भावोंके अनुसार ही भगवान्की विशेष कृपा, प्रियता आदि प्रकट होती है।

तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य सांसारिक रागके कारण ही अपनेको संसारमें मानते हैं। जब वे भगवान्का प्रेमपूर्वक भजन करने लग जाते हैं, तब उनका सांसारिक राग मिट जाता है और वे अपनी दृष्टिसे भगवान्में हो जाते हैं और भगवान् उनमें हो जाते हैं। भगवान्की दृष्टिसे तो वे वास्तवमें भगवान्में ही थे और भगवान् भी उनमें थे। केवल रागके कारण वे अपनेको भगवान्में और भगवान्को अपनेमें नहीं मानते थे।

भगवान्ने यहाँ 'ये भजन्ति' पदोंमें 'ये' सर्वनाम पद दिया है, जिसका तात्पर्य है कि मनुष्य किसी भी देशके हों, किसी भी वेशमें हों, किसी भी अवस्थाके हों, किसी भी सम्प्रदायके हों, किसी भी वर्णके हों, किसी भी आश्रमके हों, कैसी ही योग्यतावाले हों, वे अगर भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, तो वे मेरेमें और मैं उनमें हूँ। अगर भगवान् यहाँ किसी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, जाति आदिको लेकर कहते, तब तो भगवान्में विषमता, पक्षपातका होना सिद्ध हो जाता। परन्तु भगवान्ने 'ये' पदसे सबको भजन करनेकी और 'मैं' भगवान्में हूँ और भगवान् मेरेमें हूँ— इसका अनुभव करनेकी पूरी स्वतन्त्रता दे रखी है।

**परिशिष्ट भाव—'समोऽहं सर्वभूतेषु'**—जीव भगवान्को अपनी क्रियाएँ और पदार्थ अर्पण करे अथवा न करे, भगवान्में कुछ फर्क नहीं पड़ता। वे तो सदा समान ही रहते हैं। किसी वर्णविशेष, आश्रमविशेष, जातिविशेष, कर्मविशेष, योग्यताविशेष आदिका भी भगवान्पर कोई असर नहीं पड़ता। अतः प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति आदिका मनुष्य उनके सम्मुख हो सकता है, उनका भक्त हो सकता है, उनको प्राप्त कर सकता है।

**'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'**—भगवान्की दृष्टिमें भगवान्के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, फिर उनके द्वेष और प्रेमका विषय दूसरा कैसे हो सकता है? जीव ही शुभाशुभ-कर्म और उनके फलसे राग-द्वेष करके संसारमें बँध जाता है और राग-द्वेषका त्याग करके मुक्त हो जाता है। इसलिये बन्धन और मुक्ति जीवकी ही होती है, भगवान्की नहीं। विषमता जीव करता है, भगवान् नहीं। भगवान् तो ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं।

चौथे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा था—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्', वही बात भगवान्ने यहाँ 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्' पदोंसे कही है। भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे परिपूर्ण हैं, उनमें विषमता नहीं है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन करते हैं, वे भगवान्में हैं और भगवान् उनमें हैं अर्थात् भगवान् उनमें विशेषरूपसे प्रकट हैं। तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वीमें जल सब जगह रहता है, पर कुएँमें वह विशेष प्रकट (आवरणरहित) होता है, ऐसे ही भगवान् संसारमात्रमें परिपूर्ण होते हुए भी भक्तोंमें विशेष प्रकट होते हैं। भक्तोंमें यह विलक्षणता प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन करनेसे भगवत्कृपासे ही आयी है। जैसे गायके शरीरमें रहनेवाला घी गायके काम नहीं आता, प्रत्युत उसके दूधसे निकाला हुआ घी ही उसके काम आता है, ऐसे ही संसारमें परिपूर्ण होनेमात्रसे भगवान्के द्वारा लोगोंके पाप नहीं कटते, प्रत्युत जो भगवान्के सम्मुख होते हैं, प्रेमपूर्वक उनका भजन करते हैं, उनके ही पाप कटते हैं\*। सामान्य प्राणी भगवान्के अन्तर्गत होते हुए भी भगवान्को नहीं देखते, पर भक्त सब जगह भगवान्को देखते हैं (गीता—छठें अध्यायका तीसवाँ श्लोक)। भक्त भगवान्से प्रेम करते हैं और भगवान् भक्तसे प्रेम करते हैं—'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (गीता ७। १७)। इसलिये भक्त भगवान्में हैं और भगवान् भक्तोंमें

\* सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ (मानस, सुन्दर० ४४। १)

हैं—‘मयि ते तेषु चाप्यहम्’। तात्पर्य यह निकला कि विषमता भगवान्‌में नहीं है, प्रत्युत प्राणियोंने ही विषमता की है, जो कि भगवान्‌से विमुख हैं।

तत्त्वसे तो भगवान् ‘समोऽहं सर्वभूतेषु’ हैं, पर अनुभव करनेमें भगवान् ‘मयि ते तेषु चाप्यहम्’ हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे परिपूर्ण होनेपर भी भगवान्‌का अनुभव भक्त ही करते हैं, अन्य प्राणी नहीं। वास्तवमें अनुभव करनेकी शक्ति भी भगवान्‌से ही प्राप्त होती है। मनुष्यका काम केवल भगवान्‌के सम्मुख होना है।

रामायणमें आया है—

सातवें सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा ॥

(मानस, अरण्य० ३६। २)

तात्पर्य है कि भगवान्‌की सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान व्यापकता, प्रियता, कृपा तथा आत्मीयता है, पर भक्तोंमें वे विशेष दीखते हैं। भक्तोंमें यह विशेषता भगवान्‌में प्रेम होनेसे भगवत्कृपासे आती है और भगवान्‌की ही दी हुई होती है। भक्तोंकी भगवान्‌में जैसी तल्लीनता, प्रियता होती है, वैसी दूसरोंकी नहीं होती। इसलिये भगवान्‌की भी भक्तोंमें प्रियता होती है। भक्त और भगवान्‌की परस्पर प्रियताको ‘मयि ते तेषु चाप्यहम्’ पदोंसे कहा गया है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने ‘ये भजन्ति तु मां भक्त्या’ पदोंसे भक्तिपूर्वक अपना भजन करनेकी बात कही। अब आगेके श्लोकमें भजन करनेवालोंका विवेचन आरम्भ करते हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

चेत्	= अगर (कोई)	भजते	= भजन करता है (तो)	हि	= कारण कि
सुदुराचारः	= दुराचारी-से-दुराचारी	सः	= उसको	सः	= उसने
अपि	= भी	साधुः	= साधु	सम्यक्,	
अनन्यभाक्	= अनन्यभक्त होकर	एव	= ही	व्यवसितः	= निश्चय बहुत अच्छी तरह
माम्	= मेरा	मन्तव्यः	= मानना चाहिये।		कर लिया है।

व्याख्या—[कोई करोड़पति या अरबपति यह बात कह दे कि मेरे पास जो कोई आयेगा, उसको मैं एक लाख रुपये दूँगा, तो उसके इस वचनकी परीक्षा तब होगी, जब उससे सर्वथा ही विरुद्ध चलनेवाला, उसके साथ वैर रखनेवाला, उसका अनिष्ट करनेवाला भी आकर उससे एक लाख रुपये माँगे और वह उसको दे दे। इससे सबको यह विश्वास हो जायगा कि यह जो माँगे, उसको दे देता है। इसी भावको लेकर भगवान् सबसे पहले दुराचारीका नाम लेते हैं।]

‘अपि चेत्’—सातवें अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें आया है कि जो पापी होते हैं, वे मेरे शरण नहीं होते और यहाँ कहा है कि दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है—इन दोनों बातोंमें आपसमें विरोध प्रतीत होता है। इस विरोधको दूर करनेके लिये ही यहाँ

‘अपि’ और ‘चेत्’ ये दो पद दिये गये हैं। तात्पर्य है कि सातवें अध्यायमें ‘दुष्कृती मनुष्य मेरे शरण नहीं होते’ ऐसा कहकर उनके स्वभावका वर्णन किया है। परन्तु वे भी किसी कारणसे मेरे भजनमें लगना चाहें तो लग सकते हैं। मेरी तरफसे किसीको कोई मना नहीं है\*; क्योंकि किसी भी प्राणीके प्रति मेरा द्वेष नहीं है। ये भाव प्रकट करनेके लिये ही यहाँ ‘अपि’ और ‘चेत्’ पदोंका प्रयोग किया है।

‘सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्’—जो सुष्ठु दुराचारी है, सांगोपांग दुराचारी है अर्थात् दुराचार करनेमें कोई कमी न रहे, दुराचारका अंग-उपांग न छूटे—ऐसा दुराचारी है, वह भी अनन्यभाक् होकर मेरे भजनमें लग जाय तो उसका उद्धार हो जाता है।

यहाँ ‘भजते’ क्रिया वर्तमानकी है, जिसका कर्ता

\* कोटि विप्र बध लागहि जाहू। आँ सरन तजउँ नहि ताहू ॥

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहि तबहीं ॥ (मानस ५। ४४। १)

है—सांगोपांग दुराचारी। इसका तात्पर्य हुआ कि पहले भी उसके दुराचार बनते आये हैं और अभी वर्तमानमें वह अनन्यभावसे भजन करता है, तो भी उसके द्वारा दुराचार सर्वथा नहीं छूटे हैं अर्थात् कभी-कभी किसी परिस्थितिमें आकर पूर्वसंस्कारवश उसके द्वारा पाप-क्रिया हो सकती है। ऐसी अवस्थामें भी वह मेरा भजन करता है। कारण कि उसका ध्येय (लक्ष्य) अन्यका नहीं रहा है अर्थात् उसका लक्ष्य अब धन, सम्पत्ति, आदर-सत्कार, सुख-आराम आदि प्राप्त करनेका नहीं रहा है। उसका एकमात्र लक्ष्य अनन्यभावसे मेरेमें लगनेका ही है।

अब शंका यह होती है कि ऐसा दुराचारी अनन्यभावसे भगवान्‌के भजनमें कैसे लगेगा? उसके लगनेमें कई कारण हो सकते हैं; जैसे—

(१) वह किसी आफतमें पड़ जाय और उसको कहीं किंचिन्मात्र भी कोई सहारा न मिले। ऐसी अवस्थामें अचानक उसको सुनी हुई बात याद आ जाय कि 'भगवान् सबके सहायक हैं और उनकी शरणमें जानेसे सब काम ठीक हो जाता है' आदि।

(२) वह कभी किसी ऐसे वायुमण्डलमें चला जाय, जहाँ बड़े-बड़े अच्छे सन्त-महापुरुष हुए हैं और वर्तमानमें भी हैं, तो उनके प्रभावसे भगवान्‌में रुचि पैदा हो जाय।

(३) वाल्मीकि, अजामिल, सदन कसाई आदि पापी भी भगवान्‌के भक्त बन चुके हैं और भजनके प्रभावसे उनमें विलक्षणता आयी है—ऐसी कोई कथा सुन करके पूर्वका कोई अच्छा संस्कार जाग उठे, जो कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें रहता है\*।

(४) कोई प्राणी ऐसी आफतमें आ गया, जहाँ उसके बचनेकी कोई सम्भावना ही नहीं थी, पर वह बच गया। ऐसी घटनाविशेषको देखनेसे उसके भीतर यह भाव पैदा हो जाय कि कोई ऐसी विलक्षण शक्ति है, जो ऐसी आफतसे बचाती है। वह विलक्षण शक्ति भगवान् ही हो सकते हैं; इसलिये अपनेको भी उनके परायण हो जाना चाहिये।

(५) उसको किसी सन्तके दर्शन हो जाय और उसका पतन करनेवाले दुष्कर्मोंको देखकर उसपर सन्तकी कृपा हो जाय; जैसे—वाल्मीकि, अजामिल आदि पापियोंपर सन्तोंकी कृपा हुई।

—ऐसे कई कारणोंसे अगर दुराचारीका भाव बदल जाय, तो वह भगवान्‌के भजनमें अर्थात् भगवान्‌की तरफ

लग सकता है। चोर, डाकू, लुटेरे, हत्या करनेवाले बधिक आदि भी अचानक भाव बदल जानेसे भगवान्‌के अच्छे भक्त हुए हैं—ऐसी कई कथाएँ पुराणोंमें तथा भक्तमाल आदि ग्रन्थोंमें आती हैं।

अब एक शंका होती है कि जो वर्षोंसे भजन-ध्यान कर रहे हैं, उनका मन भी तत्परतासे भगवान्‌में नहीं लगता, फिर जो दुराचारी-से-दुराचारी है, उसका मन भगवान्‌में तैलधारावत् कैसे लगेगा? यहाँ 'अनन्यभाक्' का अर्थ 'वह तैलधारावत् चिन्तन करता है'—यह नहीं है, प्रत्युत इसका अर्थ है—'न अन्यं भजति' अर्थात् वह अन्यका भजन नहीं करता। उसका भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीका सहारा, आश्रय नहीं है, केवल भगवान्‌का ही आश्रय है। जैसे पतिव्रता स्त्री केवल पतिका चिन्तन ही करती हो—ऐसी बात नहीं है। वह तो हरदम पतिकी ही बनी रहती है, स्वप्नमें भी वह दूसरोंकी नहीं होती। तात्पर्य है कि उसका तो एक पतिसे ही अपनापन रहता है। ऐसे ही उस दुराचारीका केवल भगवान्‌से ही अपनापन हो जाता है और एक भगवान्‌का ही आश्रय रहता है।

'अनन्यभाक्' होनेमें खास बात है 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस प्रकार अपनी अहंताको बदल देना। अहंता-परिवर्तनसे जितनी जल्दी शुद्धि आती है, जप, तप, यज्ञ, दान आदि क्रियाओंसे उतनी जल्दी शुद्धि नहीं आती। इस अहंताके परिवर्तनके विषयमें तीन बातें हैं—

(१) अहंताको मिटाना—ज्ञानयोगसे अहंता मिट जाती है। जिस प्रकाशमें 'अहम्' (मैं-पन) का भान होता है, वह प्रकाश मेरा स्वरूप है और एकदेशीयरूपमें प्रतीत होनेवाला 'अहम्' मेरा स्वरूप नहीं है। कारण यह है कि 'अहम्' दृश्य होता है, और जो दृश्य होता है, वह अपना स्वरूप नहीं होता। इस प्रकार दोनोंका विभाजन करके अपने ज्ञप्तिमात्र स्वरूपमें स्थित होनेसे 'अहंता' मिट जाती है।

(२) अहंताको शुद्ध करना—कर्मयोगसे अहंता शुद्ध हो जाती है। जैसे, पुत्र कहता है कि 'मैं पुत्र हूँ और ये मेरे पिता हैं' तो इसका तात्पर्य है कि पिताकी सेवा करनामात्र मेरा कर्तव्य है; क्योंकि पिता-पुत्रका सम्बन्ध केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही है। पिता मेरेको पुत्र न मानें, मेरेको दुःख दें, मेरा अहित करें, तो भी मेरेको उनकी सेवा करनी है, उनको सुख पहुँचाना है। ऐसे ही माता, भाई, भौजाई, स्त्री, पुत्र, परिवारके प्रति भी मेरेको केवल अपने

\* सुमति कुमति सब के उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥ (मानस ५।४०।३)

कर्तव्यका ही पालन करना है। उनके कर्तव्यकी तरफ मेरेको देखना ही नहीं है कि वे मेरे प्रति क्या करते हैं, दुनियाके प्रति क्या करते हैं। उनके कर्तव्यको देखना मेरा कर्तव्य नहीं है; क्योंकि दूसरोंके कर्तव्यको देखनेवाला अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है। अतः उनका तो मेरेपर पूरा अधिकार है, पर वे मेरे अनुकूल चलें—ऐसा मेरा किसीपर भी अधिकार नहीं है। इस प्रकार दूसरोंका कर्तव्य न देखकर केवल अपना कर्तव्य-पालन करनेसे अहंता शुद्ध हो जाती है। कारण कि अपने सुख-आरामकी कामना होनेसे ही अहंता अशुद्ध होती है।

(३) अहंताका परिवर्तन करना—भक्तियोगसे अहंता बदल जाती है। जैसे, विवाहमें पतिके साथ सम्बन्ध होते ही कन्याकी अहंता बदल जाती है और वह पतिके घरको ही अपना घर, पतिके धर्मको ही अपना धर्म मानने लग जाती है। वह पतिव्रता अर्थात् एक पतिकी ही हो जाती है, तो फिर वह माता-पिता, सास-ससुर आदि किसीकी भी नहीं होती। इतना ही नहीं, वह अपने पुत्र और पुत्रीकी भी नहीं होती; क्योंकि जब वह सती होती है, तब पुत्र-पुत्रीके, माता-पिताके स्नेहकी भी परवाह नहीं करती। हाँ, वह पतिके नाते सेवा सबकी कर देती है, पर उसकी अहंता केवल पतिकी ही हो जाती है। ऐसे ही मनुष्यकी अहंता 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस प्रकार भगवान्के साथ हो जाती है, तो उसकी अहंता बदल जाती है। इस अहंताके बदलनेको ही यहाँ 'अनन्यभाक्' कहा है।

'साधुरेव स मन्तव्यः'—अब यहाँ एक प्रश्न होता है कि वह पहले भी दुराचारी रहा है और वर्तमानमें भी उसके आचरण सर्वथा शुद्ध नहीं हुए हैं, तो दुराचारोंको लेकर उसको दुराचारी मानना चाहिये या अनन्यभावको लेकर साधु ही मानना चाहिये? तो भगवान् कहते हैं कि उसको तो साधु ही मानना चाहिये। यहाँ 'मन्तव्यः' (मानना चाहिये) विधि-वचन है अर्थात् यह भगवान्की विशेष आज्ञा है।

माननेकी बात वहीं कही जाती है, जहाँ साधुता नहीं दीखती। अगर उसमें किंचिन्मात्र भी दुराचार न होते, तो भगवान् 'उसको साधु ही मानना चाहिये' ऐसा क्यों कहते? तो भगवान्के कहनेसे यही सिद्ध होता है कि उसमें अभी दुराचार हैं। वह दुराचारोंसे सर्वथा रहित नहीं हुआ है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि वह अभी सांगोपांग साधु नहीं हुआ है, तो भी उसको साधु ही मानना चाहिये अर्थात्

बाहरसे उसके आचरणोंमें, क्रियाओंमें कोई कमी भी देखनेमें आ जाय, तो भी वह असाधु नहीं है। इसका कारण यह है कि वह 'अनन्यभाक्' हो गया अर्थात् 'मैं केवल भगवान्का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं; मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है' इस प्रकार वह भीतरसे ही भगवान्का हो गया, उसने भीतरसे ही अपनी अहंता बदल दी। इसलिये अब उसके आचरण सुधरते देरी नहीं लगेगी; क्योंकि अहंताके अनुसार ही सब आचरण होते हैं।

उसको साधु ही मानना चाहिये—ऐसा भगवान्को क्यों कहना पड़ रहा है? कारण कि लोगोंमें यह रीति है कि वे किसीके भीतरी भावोंको न देखकर बाहरसे जैसा आचरण देखते हैं, वैसा ही उसको मान लेते हैं। जैसे, एक आदमी वर्षोंसे परिचित है अर्थात् भजन करता है, अच्छे आचरणोंवाला है—ऐसा बीसों, पचीसों वर्षोंसे जानते हैं। पर एक दिन देखा कि वह रात्रिके समय एक वेश्याके यहाँसे बाहर निकला, तो उसे देखते ही लोगोंके मनमें आता है कि देखो! हम तो इसको बड़ा अच्छा मानते थे, पर यह तो वैसा नहीं है, यह तो वेश्यागामी है! ऐसा विचार आते ही उनका जो अच्छेपनका भाव था, वह उड़ जाता है। जो कई दिनोंकी श्रद्धा-भक्ति थी, वह उठ जाती है। इसी तरहसे लोग वर्षोंसे किसी व्यक्तिको जानते हैं कि वह अन्यायी है, पापी है, दुराचारी है और वही एक दिन गंगाके किनारे स्नान किये हुए, हाथमें गोमुखी लिये हुए बैठा है। उसका चेहरा बड़ा प्रसन्न है। उसको देखकर कोई कहता है कि देखो भगवान्का भजन कर रहा है, बड़ा अच्छा पुरुष है, तो दूसरा कहता है कि अरे! तुम इसको जानते नहीं, मैं जानता हूँ; यह तो ऐसा-ऐसा है, कुछ नहीं है, केवल पाखण्ड करता है। इस प्रकार भजन करनेपर भी लोग उसको वैसा ही पापी मान लेते हैं और उधर साधन-भजन करनेवालेको भी वेश्याके घरसे निकलता देखकर खराब मान लेते हैं। उसको न जाने किस कारणसे वेश्याने बुलाया था, क्या पता वह दयापरवश होकर वेश्याको शिक्षा देनेके लिये गया हो, उसके सुधारके लिये गया हो—उस तरफ उनकी दृष्टि नहीं जाती। जिनका अन्तःकरण मैला हो, वे मैलापनकी बात करके अपने अन्तःकरणको और मैला कर लेते हैं। उनका अन्तःकरण मैलापनकी बात ही पकड़ता है। परन्तु उपर्युक्त दोनों प्रकारकी बातें होनेपर भी भगवान्की दृष्टि मनुष्यके

भावपर ही रहती है, आचरणोंपर नहीं—

‘रहति न प्रभु चित चूक किए की।  
करत सुरति सय बार हिए की॥’

(मानस १।२९।३)

क्योंकि भगवान् भावग्राही हैं—‘भावग्राही जनार्दनः।’  
‘सम्यग्व्यवसितो हि सः’—दूसरे अध्यायमें कर्मयोगके प्रकरणमें ‘व्यवसायात्मिका बुद्धि’ की बात आयी है (इकतालीसवाँ श्लोक) अर्थात् वहाँ पहले बुद्धिमें यह निश्चय होता है कि ‘मेरेको राग-द्वेष नहीं करने हैं, कर्तव्य-कर्म करते हुए सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना है।’ अतः कर्मयोगीकी बुद्धि व्यवसायात्मिका होती है और यहाँ कर्ता स्वयं व्यवसित है—‘सम्यग्व्यवसितः।’ कारण कि ‘मैं केवल भगवान्का ही हूँ, अब मेरा काम केवल भजन करना ही है’—यह निश्चय स्वयंका है, बुद्धिका नहीं। अतः सम्यक् निश्चयवालेकी स्थिति भगवान्में है। तात्पर्य यह हुआ कि वहाँ निश्चय ‘करण’-(बुद्धि-) में है और यहाँ निश्चय ‘कर्ता’-(स्वयं-) में है। करणमें निश्चय होनेपर भी जब कर्ता परमात्मतत्त्वसे अभिन्न हो जाता है, तो फिर कर्तामें निश्चय होनेपर करणमें भी निश्चय हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है!

जहाँ बुद्धिका निश्चय होता है, वहाँ वह निश्चय तबतक एकरूप नहीं रहता, जबतक स्वयं कर्ता उस निश्चयके साथ मिल नहीं जाता। जैसे; सत्संग-स्वाध्यायके समय मनुष्योंका ऐसा निश्चय होता है कि अब तो हम केवल भजन-स्मरण ही करेंगे। परन्तु यह निश्चय सत्संग-

**परिशिष्ट भाव**—ज्ञानयोग और कर्मयोगमें बुद्धिकी प्रधानता रहती है—‘एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु’ (गीता २।३९)। इसलिये ज्ञानयोगी और कर्मयोगीकी बुद्धि व्यवसित होती है—‘व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह’ (गीता २।४१), ‘व्यवसायात्मिका बुद्धिः’ (गीता २।४४)। परन्तु भक्तियोगमें स्वयंकी प्रधानता रहती है, इसलिये भक्त स्वयं व्यवसित होता है—‘सम्यग्व्यवसितो हि सः’।

मन-बुद्धिमें बैठी हुई बातकी विस्मृति हो सकती है, पर स्वयंमें बैठी हुई बातकी विस्मृति नहीं हो सकती। कारण कि मन-बुद्धि अपने साथ निरन्तर नहीं रहते, सुषुप्तिमें हमें उनके अभावका अनुभव होता है, पर स्वयंके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। उस स्वयंमें जो बात होती है, वह अखण्ड रहती है। इसलिये ‘मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं’—यह स्वीकृति स्वयंमें होती है, मन-बुद्धिमें नहीं। एक बार यह स्वीकृति होनेपर फिर कभी अस्वीकृति होती ही नहीं; क्योंकि स्वयं मूलमें भगवान्का ही अंश होनेसे भगवान्से अभिन्न है। परन्तु भूलसे यह प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। अतः वास्तवमें केवल अपनी भूल ही मिटती है। भूल मिटते ही भगवान्के नित्य-सम्बन्धकी स्वतः जागृति हो जाती है—‘नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा’ (गीता १८।७३)। दूसरेके साथ सम्बन्ध माना था, यही भूल थी, मोह था।

स्वाध्यायके बाद स्थिर नहीं रहता। इसमें कारण यह है कि उनकी स्वयंकी स्वाभाविक रुचि केवल परमात्माकी तरफ चलनेकी नहीं है, प्रत्युत साथमें संसारका सुख-आराम आदि लेनेकी भी रुचि रहती है। परन्तु जब स्वयंका यह निश्चय हो जाता है कि अब हमें परमात्माकी तरफ ही चलना है, तो फिर यह निश्चय कभी मिटता नहीं; क्योंकि यह निश्चय स्वयंका है।

जैसे, कन्याका विवाह होनेपर ‘अब मैं पतिकी हो गयी, अब मेरेको पतिके घरका काम ही करना है’ ऐसा निश्चय स्वयंमें हो जानेसे यह कभी मिटता नहीं, प्रत्युत बिना याद किये ही हरदम याद रहता है। इसका कारण यह है कि उसने स्वयंको ही पतिका मान लिया। ऐसे ही जब मनुष्य यह निश्चय कर लेता है कि ‘मैं भगवान्का हूँ और अब केवल भगवान्का ही काम (भजन) करना है, भजनके सिवाय और कोई काम नहीं, किसी कामसे कोई मतलब नहीं, तो यह निश्चय स्वयंका होनेसे सदाके लिये पक्का हो जाता है, फिर कभी मिटता ही नहीं।’ इसलिये भगवान् कहते हैं कि उसको साधु ही मानना चाहिये। केवल माननेकी ही बात नहीं, स्वयंका निश्चय होनेसे वह बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जाता है—‘क्षिप्रं भवति धर्मात्मा’ (९।३१)।

भक्तियोगकी दृष्टिसे सम्पूर्ण दुर्गुण-दुराचार भगवान्की विमुखतापर ही टिके रहते हैं। जब प्राणी अनन्यभावसे भगवान्के सम्मुख हो जाता है, तब सभी दुर्गुण-दुराचार मिट जाते हैं।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें सम्यक् निश्चयका फल बताते हैं।

## क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

क्षिप्रम्	= (वह) तत्काल (उसी क्षण)	शश्वत्	= निरन्तर रहनेवाली	भक्तः	= भक्तका
धर्मात्मा	= धर्मात्मा	शान्तिम्	= शान्तिको	प्रणश्यति, न	= पतन नहीं होता—
भवति	= हो जाता है (और)	निगच्छति	= प्राप्त हो जाता है।	प्रतिजानीहि	= (ऐसी तुम) प्रतिज्ञा करो।
		कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!		
		मे	= मेरे		

**व्याख्या—**‘क्षिप्रं भवति धर्मात्मा’—वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है अर्थात् महान् पवित्र हो जाता है। कारण कि यह जीव स्वयं परमात्माका अंश है और जब इसका उद्देश्य भी परमात्माकी प्राप्ति करना हो गया तो अब उसके धर्मात्मा होनेमें क्या देरी लगेगी? अब वह पापात्मा कैसे रहेगा? क्योंकि वह धर्मात्मा तो स्वतः था ही, केवल संसारके सम्बन्धके कारण उसमें पापात्मापन आया था, जो कि आगन्तुक था। अब जब अहंता बदलनेसे संसारका सम्बन्ध नहीं रहा, तो वह ज्यों-का-त्यों (धर्मात्मा) रह गया।

यह जीव जब पापात्मा नहीं बना था, तब भी पवित्र था और जब पापात्मा बन गया, तब भी वैसा ही पवित्र था। कारण कि परमात्माका अंश होनेसे जीव सदा ही पवित्र है। केवल संसारके सम्बन्धसे वह पापात्मा बना था। संसारका सम्बन्ध छूटते ही वह ज्यों-का-त्यों पवित्र रह गया।

पाप करनेकी भावना रहते हुए मनुष्य ‘मेरेको केवल भगवान्की तरफ ही चलना है’—ऐसा निश्चय नहीं कर सकता, यह बात ठीक है। परन्तु पापी मनुष्य ऐसा निश्चय नहीं कर सकता—यह नियम नहीं है। कारण कि जीवमात्र परमात्माका अंश होनेसे तत्त्वतः निर्दोष है। संसारकी आसक्तिके कारण ही उसमें आगन्तुक दोष आ जाते हैं। यदि उसके मनमें पापोंसे घृणा हो जाय और ऐसा निश्चय हो जाय कि अब भगवान्का ही भजन करना है, तो वह बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जाता है। कारण कि जहाँ संसारकी कामना है, वहीं भगवान्की तरफ चलनेकी रुचि भी है। अगर भगवान्की तरफ चलनेकी रुचि जम जाय, तो कामना, आसक्ति नष्ट हो जाती है। फिर भगवत्प्राप्तिमें देरी नहीं लग सकती।

वह बहुत जल्दी धर्मात्मा हो जाता है—इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें जो यत्किंचित् दुराचार दीखते हैं, वे भी टिकेंगे नहीं। कारण कि सब-के-सब दुराचार टिके

हुए हैं—संसारको महत्त्व देनेपर। परन्तु जब वह संसारकी कामनासे रहित होकर केवल भगवान्को ही चाहता है, तब उसके भीतर संसारका महत्त्व न रहकर केवल भगवान्का महत्त्व हो जाता है। भगवान्का महत्त्व होनेसे वह धर्मात्मा हो जाता है।

### मार्मिक बात

यह एक सिद्धान्त है कि कर्ताके बदलनेपर क्रियाएँ अपने-आप बदल जाती हैं, जैसे कोई धर्मरूपी क्रिया करके धर्मात्मा होना चाहता है, तो उसे धर्मात्मा होनेमें देरी लगेगी। परन्तु अगर वह कर्ताको ही बदल दे अर्थात् ‘मैं धर्मात्मा हूँ’ ऐसे अपनी अहंताको ही बदल दे, तो वह बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जायगा। ऐसे ही दुराचारी-से-दुराचारी भी ‘मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं’ ऐसे अपनी अहंताको बदल देता है, तो वह बहुत जल्दी धर्मात्मा हो जाता है, साधु हो जाता है, भक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जब संसार-शरीरके साथ ‘मैं’ और ‘मेरा’-पन करके संयोगजन्य सुख चाहने लगता है, तब वह ‘कामात्मा’ (गीता—दूसरे अध्यायका तैतालीसवाँ श्लोक) बन जाता है और जब संसारसे सर्वथा विमुख होकर भगवान्के साथ अनन्य सम्बन्ध जोड़ लेता है, जो कि वास्तवमें है, तब वह ‘धर्मात्मा’ बन जाता है।

साधारण दृष्टिसे लोग यही समझते हैं कि मनुष्य सत्य बोलनेसे सत्यवादी होता है और चोरी करनेसे चोर होता है। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। जब स्वयं सत्यवादी होता है अर्थात् ‘मैं सत्य बोलनेवाला हूँ’ ऐसी अहंताको अपनेमें पकड़ लेता है, तब वह सत्य बोलता है और सत्य बोलनेसे उसकी सत्यवादिता दृढ़ हो जाती है। ऐसे ही चोर होता है, वह ‘मैं चोर हूँ’ ऐसी अहंताको पकड़कर ही चोरी करता है और चोरी करनेसे उसका चोरपना दृढ़ हो जाता है। परन्तु

जिसकी अहंतामें 'मैं चोर हूँ ही नहीं' ऐसा दृढ़ भाव है, वह चोरी नहीं कर सकता। तात्पर्य यह हुआ कि अहंताके परिवर्तनसे क्रियाओंका परिवर्तन हो जाता है।

इन दोनों दृष्टान्तोंसे यह सिद्ध हुआ कि कर्ता जैसा होता है, उसके द्वारा वैसे ही कर्म होते हैं और जैसे कर्म होते हैं, वैसे ही कर्तापन दृढ़ हो जाता है। ऐसे ही यहाँ दुराचारी भी 'अनन्यभाक्' होकर अर्थात् 'मैं केवल भगवान्का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हूँ' ऐसे अनन्यभावसे भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तो उसकी अहंतामें 'मैं भगवान्का हूँ, संसारका नहीं हूँ' यह भाव दृढ़ हो जाता है, जो कि वास्तवमें सत्य है। इस प्रकार अहंताके बदल जानेपर क्रियाओंमें किञ्चिन्मात्र कमी रहनेपर भी वह बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जाता है।

यहाँ शंका हो सकती है कि पूर्वश्लोकमें भगवान् 'सुदुराचारः' कहकर आये हैं, तो फिर यहाँ भगवान्ने उसको 'धर्मात्मा' क्यों कहा है? इसका समाधान है कि दुराचारीके दुराचार मिट जायँ, तो वह सदाचारी अर्थात् धर्मात्मा ही होगा। अतः सदाचारी कहो या धर्मात्मा कहो—एक ही बात है।

'शाश्वच्छान्तिं निगच्छति'—केवल धार्मिक क्रियाओंसे जो धर्मात्मा बनता है, उसके भीतर भोग और ऐश्वर्यकी कामना होनेसे उसको भोग और ऐश्वर्य तो मिल सकते हैं, पर शाश्वती शान्ति नहीं मिल सकती। दुराचारीकी अहंता बदलनेपर जब वह भगवान्के साथ भीतरसे एक हो जाता है, तब उसके भीतर कामना नहीं रह सकती, असत्का महत्त्व नहीं रह सकता। इसलिये उसको निरन्तर रहनेवाली शान्ति मिल जाती है।

दूसरा भाव यह है कि स्वयं परमात्माका अंश होनेसे 'चेतन अमल सहज सुखरासी' है। अतः उसमें अपने स्वरूपकी जो अनादि अनन्त स्वतःसिद्ध शान्ति है, धर्मात्मा होनेसे अर्थात् भगवान्के साथ अनन्यभावसे सम्बन्ध होनेसे वह शाश्वती शान्ति प्राप्त हो जाती है। केवल संसारके साथ सम्बन्ध माननेसे ही उसका अनुभव नहीं हो रहा था।

**परिशिष्ट भाव**—जैसे रोगीका वैद्यके साथ सम्बन्ध हो जाता है, ऐसे ही अपनी निर्बलताका और भगवान्की सर्वसमर्थताका विश्वास होनेपर मनुष्यका भगवान्के साथ सम्बन्ध हो जाता है। तात्पर्य है कि जब मनुष्य संसारके दुःखोंसे घबरा जाता है और उनको मिटानेमें अपनी निर्बलताका अनुभव करता है, पर साथ-ही-साथ उसमें यह विश्वास रहता है कि सर्वसमर्थ भगवान्की कृपाशक्तिसे मेरी यह निर्बलता दूर हो सकती है, मैं सांसारिक दुःखोंसे बच सकता हूँ, तब वह तत्काल 'भक्त' हो जाता है—'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'। भूखे व्यक्तिको अन्न मिल जाय तो क्या भोजन करनेमें देरी लगेगी?

जबतक मनुष्यको अपनेमें कुछ बल, योग्यता, विशेषता दीखती है, तबतक वह 'अनन्यभाक्' नहीं होता। वह

'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'— यहाँ 'मेरे भक्तका पतन नहीं होता' ऐसी प्रतिज्ञा भगवान् अर्जुनसे करवाते हैं, स्वयं नहीं करते। इसका आशय यह है कि अभी युद्धका आरम्भ होनेवाला है और भगवान्ने पहले ही हाथमें शस्त्र न लेनेकी प्रतिज्ञा कर ली है; परन्तु जब आगे भीष्मजी यह प्रतिज्ञा कर लेंगे कि 'आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ। तौ लाजौं गंगा-जननीकों शान्तनु सुत न कहाऊँ॥' तो उस समय भगवान्की प्रतिज्ञा तो टूट जायगी, पर भक्त-(भीष्मजी-)की प्रतिज्ञा नहीं टूटेगी। भगवान्ने चौथे अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'भक्तोऽसि मे सखा चेति' कहकर अर्जुनको अपना भक्त स्वीकार किया है। अतः भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि भैया! तू प्रतिज्ञा कर ले। कारण कि तेरे द्वारा प्रतिज्ञा करनेपर अगर मैं खुद भी तेरी प्रतिज्ञा तोड़ना चाहूँगा, तो भी तोड़ नहीं सकूँगा, फिर और तोड़ेगा ही कौन? तात्पर्य हुआ कि अगर भक्त प्रतिज्ञा करे, तो उस प्रतिज्ञाके विरुद्ध मेरी प्रतिज्ञा भी नहीं चलेगी।

मेरे भक्तका विनाश अर्थात् पतन नहीं होता—यह कहनेका तात्पर्य है कि जब वह सर्वथा मेरे सम्मुख हो गया है, तो अब उसके पतनकी किञ्चिन्मात्र भी सम्भावना नहीं रही। पतनका कारण तो शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मान लेना ही था। उस माने हुए सम्बन्धसे सर्वथा विमुख होकर जब वह अनन्यभावसे मेरे ही सम्मुख हो गया, तो अब उसके पतनकी सम्भावना हो ही कैसे सकती है?

दुराचारी भी जब भक्त हो सकता है, तो फिर भक्त होनेके बाद वह पुनः दुराचारी भी हो सकता है—ऐसा न्याय कहता है। इस न्यायको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि यह न्याय यहाँ नहीं लगता। मेरे यहाँ तो दुराचारी-से-दुराचारी भी भक्त बन सकते हैं, पर भक्त होनेके बाद उनका फिर पतन नहीं हो सकता अर्थात् वे फिर दुराचारी नहीं बन सकते। इस प्रकार भगवान्के न्यायमें भी दया भरी हुई है। अतः भगवान् न्यायकारी और दयालु—दोनों ही सिद्ध होते हैं।



‘अनन्यभाक्’ तभी होता है, जब उसको दूसरा कोई उसके दुःखोंको मिटानेवाला नहीं दीखता। ‘अनन्यभाक्’ होते ही वह धर्मात्मा अर्थात् भगवान्का भक्त हो जाता है।

भक्तका पतन नहीं होता; क्योंकि वह भगवन्निष्ठ होता है अर्थात् उसके साधन और साध्य भगवान् ही होते हैं; उसका अपना बल नहीं होता, प्रत्युत भगवान्का ही बल होता है। यहाँ शंका हो सकती है कि अगर भक्तका पतन नहीं होता तो भगवान्ने अठारहवें अध्यायमें अर्जुनको ‘अथ चेत्त्वमहंकारान् श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि’ (१८। ५८) ‘यदि तू अहंकारके कारण मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा’—ऐसा क्यों कहा? जबकि भगवान् अर्जुनको अपना भक्त भी मानते हैं—‘भक्तोऽसि मे सखा चेति’ (गीता ४। ३)? इसका समाधान है कि भक्तका पतन तभी हो सकता है, जब वह भगवान्का आश्रय छोड़कर अहंकारका आश्रय ले ले—‘अहंकारान् श्रोष्यसि’। भगवान्का आश्रय रहते हुए उसका पतन नहीं हो सकता।

भक्त भगवान्के छोटे बालक हैं और ज्ञानी बड़े बालक हैं। जैसे माँको छोटे-बड़े सभी बालक समानरूपसे प्रिय लगते हैं, पर वह सँभाल छोटे बालककी ही करती है, बड़ेकी नहीं। कारण कि छोटा बालक सर्वथा माँके ही आश्रित रहता है; अतः उसके सँभालकी जितनी आवश्यकता है, उतनी बड़ेके लिये आवश्यकता नहीं है। ऐसे ही भगवान् अपने आश्रित भक्तकी पूरी सँभाल करते हैं और स्वयं उसके योगक्षेमका वहन करते हैं (गीता—नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। परन्तु ज्ञानीके योगक्षेमका वहन कौन करे? इसलिये ज्ञानका साधक तो योगभ्रष्ट हो सकता है, पर भक्त योगभ्रष्ट नहीं हो सकता।

ब्रह्मादि देवता भगवान्से कहते हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यथोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ३२)

‘हे कमलनयन! जो लोग आपके चरणोंकी शरण नहीं लेते और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमें वे बद्ध ही हैं। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-से-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।’

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।

त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ३३)

‘परन्तु भगवन्! जो आपके भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियोंकी तरह अपने साधनसे गिरते नहीं। प्रभो! आपके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवाली सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय होकर विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकता।’

भगवान्की स्तुति करते हुए वेद कहते हैं—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।

ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।

जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥

(मानस, उत्तर० १३। ३)

ज्ञानयोगके साधकमें कुछ कमी रहनेसे पतन हो सकता है, पर भक्तियोगके साधकमें कुछ कमी रहनेपर भी पतन नहीं होता। इसलिये भगवान् कहते हैं—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः। प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १८)

‘उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार उसे बाधा पहुँचाते रहते

हैं, अपनी ओर खींचते रहते हैं तो भी वह प्रतिक्षण बढ़नेवाली मेरी भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता।'  
न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्।

(महाभारत, अनु० १४९। १३१)

‘भगवान्के भक्तोंका कहीं कभी भी अशुभ नहीं होता।’

सीम कि चाँपि सकड़ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

(मानस, बाल० १२६। ४)

‘कौन्तेय प्रतिजानीहि’—भगवान् अर्जुनको प्रतिज्ञा करनेके लिये कहते हैं; क्योंकि भक्तकी प्रतिज्ञा भगवान् भी टाल नहीं सकते। भक्ति भगवान्की कमजोरी है। इसलिये भगवान्ने दुर्वासासे कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

‘हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।’

‘कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति’—इन पदोंसे साधकको यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि मेरा पतन हो ही नहीं सकता; क्योंकि मैं भगवान्का ही हूँ।

सम्बन्ध—इस प्रकरणमें भगवान्ने अपनी भक्तिके सात अधिकारी बताये हैं। उनमेंसे दुराचारीका वर्णन दो श्लोकोंमें किया। अब आगेके श्लोकमें भक्तिके चार अधिकारियोंका वर्णन करते हैं।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	वैश्याः	= वैश्य	व्यपाश्रित्य	= सर्वथा मेरे शरण
ये	= जो	तथा	= और		होकर
अपि	= भी	शूद्राः	= शूद्र (हों),	हि	= निःसन्देह
पापयोनयः	= पापयोनिवाले	ते	= वे	पराम्	= परम
स्युः	= हों (तथा जो भी)	अपि	= भी	गतिम्	= गतिको
स्त्रियः	= स्त्रियाँ,	माम्,		यान्ति	= प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या—‘मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य ..... यान्ति परां गतिम्’—जिनके इस जन्ममें आचरण खराब हैं अर्थात् जो इस जन्मका पापी है, उसको भगवान्ने तीसवें श्लोकमें ‘दुराचारी’ कहा है। जिनके पूर्वजन्ममें आचरण खराब थे अर्थात् जो पूर्वजन्मके पापी हैं और अपने पुराने पापोंका फल भोगनेके लिये नीच योनियोंमें पैदा हुए हैं, उनको भगवान्ने यहाँ ‘पापयोनि’ कहा है।

यहाँ ‘पापयोनि’ शब्द ऐसा व्यापक है, जिसमें असुर, राक्षस, पशु, पक्षी आदि सभी लिये जा सकते हैं\* और ये सभी भगवद्भक्तिके अधिकारी माने जाते हैं। शाण्डिल्य ऋषिने कहा है—‘आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात्

सामान्यवत्।’ (शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र ७८) अर्थात् जैसे दया, क्षमा, उदारता आदि सामान्य धर्मोंके मात्र मनुष्य अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवद्भक्तिके नीची-से-नीची योनिसे लेकर ऊँची-से-ऊँची योनितकके सब प्राणी अधिकारी हैं। इसका कारण यह है कि मात्र जीव भगवान्के अंश होनेसे भगवान्की तरफ चलनेमें, भगवान्की भक्ति करनेमें, भगवान्के सम्मुख होनेमें अनधिकारी नहीं हैं। प्राणियोंकी योग्यता-अयोग्यता आदि तो सांसारिक कार्योंमें हैं; क्योंकि ये योग्यता आदि बाह्य हैं और मिली हुई हैं तथा बिछुड़नेवाली हैं। इसलिये भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़नेमें योग्यता-अयोग्यता कोई कारण नहीं है अर्थात् जिसमें योग्यता है, वह

\* केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः। येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरंजसा ॥ (श्रीमद्भा० ११। १२। ८)

‘गोपियाँ, गावें, वृक्ष, पशु, नाग तथा इस प्रकारके और भी मूढबुद्धि प्राणियोंने अनन्यभावके द्वारा सिद्ध होकर अनायास ही मेरी प्राप्ति कर ली है।’

भगवान्में लग सकता है और जिसमें अयोग्यता है, वह भगवान्में नहीं लग सकता—यह कोई कारण नहीं है। प्राणी स्वयं भगवान्के हैं; अतः सभी भगवान्के सम्मुख हो सकते हैं। तात्पर्य हुआ कि जो हृदयसे भगवान्को चाहते हैं, वे सभी भगवद्भक्तिके अधिकारी हैं। ऐसे पापयोनिवाले भी भगवान्के शरण होकर परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं, परम पवित्र हो जाते हैं।

लौकिक दृष्टिसे तो आचरण भ्रष्ट होनेसे अपवित्रता मानी जाती है, पर वास्तवमें जो कुछ अपवित्रता आती है, वह सब-की-सब भगवान्से विमुख होनेसे ही आती है। जैसे, अंगार अग्निसे विमुख होते ही कोयला बन जाता है। फिर उस कोयलेको साबुन लगाकर कितना ही धो लें, तो भी उसका कालापन नहीं मिटता। अगर उसको पुनः अग्निमें रख दिया जाय, तो फिर उसका कालापन नहीं रहता और वह चमक उठता है। ऐसे ही भगवान्के अंश इस जीवमें कालापन अर्थात् अपवित्रता भगवान्से विमुख होनेसे ही आती है। अगर यह भगवान्के सम्मुख हो जाय, तो इसकी वह अपवित्रता सर्वथा मिट जाती है और यह महान् पवित्र हो जाता है तथा दुनियामें चमक उठता है। इसमें इतनी पवित्रता आ जाती है कि भगवान् भी इसे अपना मुकुटमणि बना लेते हैं!

जब स्वयं आर्त होकर प्रभुको पुकारता है, तो उस पुकारमें भगवान्को द्रवित करनेकी जो शक्ति है, वह शक्ति शुद्ध आचरणोंमें नहीं है। जैसे, माँका एक बेटा अच्छा काम करता है तो माँ उससे प्यार करती है और एक बेटा कुछ भी काम नहीं करता, प्रत्युत आर्त होकर माँको पुकारता है, रोता है, तो फिर माँ यह विचार नहीं करती कि यह तो कुछ भी अच्छा काम नहीं करता, इसको गोदमें कैसे लूँ? वह उसके रोनेको सह नहीं सकती और चट उठाकर गोदमें ले लेती है। ऐसे ही खराब-से-खराब आचरण करनेवाला, पापी-से-पापी व्यक्ति भी आर्त होकर भगवान्को पुकारता है, रोता है, तो भगवान् उसको अपनी गोदमें ले लेते हैं, उससे प्यार करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वयंके भगवान्की ओर लगनेपर जब इस जन्मके पाप भी बाधा नहीं दे सकते, तो फिर पुराने पाप बाधा कैसे दे

सकते हैं ?

कारण कि पुराने पाप-कर्मोंका फल जन्म और भोगरूप प्रतिकूल परिस्थिति है; अतः वे भगवान्की ओर चलनेमें बाधा नहीं दे सकते।

यहाँ 'स्त्रियः' पद देनेका तात्पर्य है कि किसी भी वर्णकी, किसी भी आश्रमकी, किसी भी देशकी, किसी भी वेशकी कैसी ही स्त्रियाँ क्यों न हों, वे सभी मेरे शरण होकर परम पवित्र बन जाती हैं और परमगतिको प्राप्त होती हैं। जैसे, प्राचीन कालमें देवहूति, शबरी, कुन्ती, द्रौपदी, व्रजगोपियाँ आदि और अभीके जमानेमें मीरा, करमैती, करमाबाई, फूलीबाई आदि कई स्त्रियाँ भगवान्की भक्ता हो गयी हैं। ऐसे ही वैश्योंमें समाधि, तुलाधार आदि और शूद्रोंमें विदुर, संजय, निषादराज गुह आदि कई भगवान्के भक्त हुए हैं। तात्पर्य यह हुआ कि पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र—ये सभी भगवान्का आश्रय लेकर परमगतिको प्राप्त होते हैं।

### विशेष बात

इस श्लोकमें 'पापयोनिः' पद स्वतन्त्ररूपसे आया है। इस पदको स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रोंका विशेषण नहीं माना जा सकता; क्योंकि ऐसा माननेपर कई बाधाएँ आती हैं। स्त्रियाँ चारों वर्णोंकी होती हैं। उनमेंसे ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंकी स्त्रियोंको अपने-अपने पतियोंके साथ यज्ञ आदि वैदिक कर्मोंमें बैठनेका अधिकार है। अतः स्त्रियोंको पापयोनि कैसे कह सकते हैं? अर्थात् नहीं कह सकते। चारों वर्णोंमें आते हुए भी भगवान्ने स्त्रियोंका नाम अलगसे लिया है। इसका तात्पर्य है कि स्त्रियाँ पतिके साथ ही मेरा आश्रय ले सकती हैं, मेरी तरफ चल सकती हैं—ऐसा कोई नियम नहीं है। स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक मेरा आश्रय लेकर परमगतिको प्राप्त हो सकती हैं। इसलिये स्त्रियोंको किसी भी व्यक्तिका मनसे किंचिन्मात्र भी आश्रय न लेकर केवल मेरा ही आश्रय लेना चाहिये।

अगर इस 'पापयोनिः' पदको वैश्योंका विशेषण माना जाय, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं बैठता। कारण कि श्रुतिके अनुसार वैश्योंको पापयोनि नहीं माना जा सकता\*।

\* 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ने रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ने कपूयां योनिमापद्येरञ्ज्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।' (छान्दोग्य० ५।१०।७)  
'अर्थात् जो अच्छे आचरणोंवाले हैं, उनका जन्म तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंमें होता है; परन्तु जो नीच आचरणोंवाले हैं, वे कुत्ते, सूकर तथा चाण्डालयोनिमें जन्म लेते हैं।'

वैश्योंको तो वेदोंके पढ़नेका और यज्ञ आदि वैदिक कर्मोंके करनेका पूरा अधिकार दिया गया है।

अगर इस 'पापयोनयः' पदको शूद्रोंका विशेषण माना जाय, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं बैठता; क्योंकि शूद्र तो चारों वर्णोंमें आ जाते हैं। अतः चारों वर्णोंके अतिरिक्त अर्थात् शूद्रोंकी अपेक्षा भी जो हीन जातिवाले यवन, हूण, खस आदि मनुष्य हैं, उन्हींको 'पापयोनयः' पदके अन्तर्गत लेना चाहिये।

जैसे माँकी गोदमें जानेके लिये किसी भी बच्चेके लिये मनाही नहीं है; क्योंकि वे बच्चे माँके ही हैं। ऐसे ही भगवान्का अंश होनेसे प्राणिमात्रके लिये भगवान्की तरफ चलनेमें (भगवान्की ओरसे) कोई मनाही नहीं है। पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदिमें भगवान्की तरफ चलनेकी समझ, योग्यता नहीं है, फिर भी पूर्वजन्मके संस्कारसे या अन्य किसी कारणसे वे भगवान्के सम्मुख हो सकते हैं। अतः यहाँ 'पापयोनयः' पदमें पशु, पक्षी आदिको भी अपवादरूपसे ले सकते हैं। पशु-पक्षियोंमें गजेन्द्र, जटायु आदि भगवद्भक्त हो चुके हैं।

### मार्मिक बात

भगवान्की तरफ चलनेमें भावकी प्रधानता होती है, जन्मकी नहीं। जिसके अन्तःकरणमें जन्मकी प्रधानता होती है, उसमें भावकी प्रधानता नहीं होती और उसमें भगवान्की भक्ति भी पैदा नहीं होती। कारण कि जन्मकी प्रधानता माननेवालेके 'अहम्' में शरीरका सम्बन्ध मुख्य रहता है, जो भगवान्में नहीं लगने देता अर्थात् शरीर भगवान्का भक्त नहीं होता और भक्त शरीर नहीं होता, प्रत्युत स्वयं भक्त होता है। ऐसे ही जीव ब्रह्मको प्राप्त नहीं हो सकता; किन्तु ब्रह्म ही ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्ममें जीवभाव नहीं होता और जीवभावमें ब्रह्मभाव नहीं होता। जीव तो प्राणोंको लेकर ही है और ब्रह्ममें प्राण नहीं होते। इसलिये ब्रह्म ही ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् जीवभाव मिटकर

ही ब्रह्मको प्राप्त होता है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक० ४। ४। ६)।

स्वयंमें शरीरका अभिमान नहीं होता। जहाँ स्वयंमें शरीरका अभिमान होता है, वहाँ 'मैं शरीरसे अलग हूँ' यह विवेक नहीं होता, प्रत्युत वह हाड़-मांसका, मल-मूत्र पैदा करनेवाली मशीनका ही दास (गुलाम) बना रहता है। यही अविवेक है, अज्ञान है। इस तरह अविवेककी प्रधानता होनेसे मनुष्य न तो भक्ति-मार्गमें चल सकता है और न ज्ञानमार्गमें ही चल सकता है। अतः शरीरको लेकर जो व्यवहार है, वह लौकिक मर्यादाके लिये बहुत आवश्यक है और उस मर्यादाके अनुसार चलना ही चाहिये। परन्तु भगवान्की तरफ चलनेमें स्वयंकी मुख्यता है, शरीरकी नहीं।

तात्पर्य यह हुआ कि जो भक्ति या मुक्ति चाहता है, वह स्वयं होता है, शरीर नहीं। यद्यपि तादात्म्यके कारण स्वयं शरीर धारण करता रहता है; परन्तु स्वयं कभी भी शरीर नहीं हो सकता और शरीर कभी भी स्वयं नहीं हो सकता। स्वयं स्वयं ही है और शरीर शरीर ही है। स्वयंकी परमात्माके साथ एकता है और शरीरकी संसारके साथ एकता है। जबतक शरीरके साथ तादात्म्य रहता है, तबतक वह न भक्तिका और न ज्ञानका ही अधिकारी होता है तथा न सम्पूर्ण शंकाओंका समाधान ही कर सकता है। वह शरीरका तादात्म्य मिटता है—भावसे। मनुष्यका जब भगवान्की तरफ भाव होता है, तब शरीर आदिकी तरफ उसकी वृत्ति ही नहीं जाती। वह तो केवल भगवान्में ही तल्लीन हो जाता है, जिससे शरीरका तादात्म्य मिट जाता है। इसलिये उसको विवेक-विचार नहीं करना पड़ता और उसमें वर्ण-आश्रम आदिकी किसी प्रकारकी शंका पैदा ही नहीं होती। ऐसे ही विवेकसे भी तादात्म्य मिटता है। तादात्म्य मिटनेपर उसमें किसी भी वर्ण या आश्रमका अभिमान नहीं होता। कारण कि स्वयंमें वर्ण-आश्रम नहीं है, वह वर्ण-आश्रमसे अतीत है।

**परिशिष्ट भाव**—जिसमें दूसरेका आश्रय नहीं है, ऐसे अनन्य आश्रयको यहाँ 'व्यपाश्रय' अर्थात् विशेष आश्रय कहा गया है।

पूर्वजन्मके पापीकी अपेक्षा वर्तमानका पापी विशेष दोषी होता है, इसलिये पहले (तीसवें-इकतीसवें श्लोकोंमें) वर्तमान (इस जन्मके) पापीकी बात कहकर अब इस श्लोकमें पूर्वजन्मके पापीकी बात कहते हैं—'येऽपि स्युः पापयोनयः'।

सम्बन्ध—अब भक्तिके शेष दो अधिकारियोंका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

## किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा । अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

<b>पुण्याः</b>	= (जो) पवित्र आचरण करने- वाले	<b>भक्ताः</b>	= भगवान्के भक्त हों, (वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ)	<b>अनित्यम्</b>	= अनित्य (और)
<b>ब्राह्मणाः</b>	= ब्राह्मण	<b>किम्, पुनः</b>	= इसमें तो कहना ही क्या है!	<b>असुखम्</b>	= सुखरहित
<b>तथा</b>	= और	<b>इमम्</b>	= (इसलिये) इस	<b>लोकम्</b>	= शरीरको
<b>राजर्षयः</b>	= ऋषिस्वरूप क्षत्रिय			<b>प्राप्य</b>	= प्राप्त करके (तू)
				<b>माम्</b>	= मेरा
				<b>भजस्व</b>	= भजन कर।

**व्याख्या—**‘किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता \* राजर्षयस्तथा’—जब वर्तमानमें पाप करनेवाला सांगोपांग दुराचारी और पूर्वजन्मके पापोंके कारण नीच योनियोंमें जन्म लेनेवाले प्राणी तथा स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र—ये सभी मेरे शरण होकर, मेरा आश्रय लेकर परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं, परम पवित्र हो जाते हैं, तो फिर जिनके पूर्वजन्मके आचरण भी अच्छे हों और इस जन्ममें भी उत्तम कुलमें जन्म हुआ हो, ऐसे पवित्र ब्राह्मण और पवित्र क्षत्रिय अगर मेरे शरण हो जायँ, मेरे भक्त बन जायँ, तो वे परमगतिको प्राप्त हो जायँगे, इसमें कहना ही क्या है! अर्थात् वे निःसन्देह परमगतिको प्राप्त हो जायँगे।

पहले तीसवें श्लोकमें जिसको दुराचारी कहा है, उसके विपक्षमें यहाँ ‘पुण्याः’ पद आया है और बत्तीसवें श्लोकमें जिनको ‘पापयोनयः’ कहा है, उनके विपक्षमें यहाँ ‘ब्राह्मणाः’ पद आया है। इसका आशय है कि ब्राह्मण सदाचारी भी हैं और पवित्र जन्मवाले भी हैं। ऐसे ही इस जन्ममें जो शुद्ध आचरणवाले क्षत्रिय हैं, उनकी वर्तमानकी पवित्रताको बतानेके लिये यहाँ ‘ऋषि’ शब्द आया है, और जिनके जन्मारम्भक कर्म भी शुद्ध हैं, यह बतानेके लिये यहाँ ‘राजन्’ शब्द आया है।

पवित्र ब्राह्मण और ऋषिस्वरूप क्षत्रिय—इन दोनोंके बीचमें ‘भक्ताः’ पद देनेका तात्पर्य है कि जिनके पूर्वजन्मके आचरण भी शुद्ध हैं और जो इस जन्ममें भी सर्वथा पवित्र हैं, वे (ब्राह्मण और क्षत्रिय) अगर भगवान्की भक्ति करने लग जायँ तो उनके उद्धारमें सन्देह हो ही कैसे सकता है?

‘पुण्या ब्राह्मणाः’, ‘राजर्षयः’ और ‘भक्ताः’—ये तीन बातें कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि इस जन्मके आचरणसे पवित्र और पूर्वजन्मके शुद्ध आचरणोंके कारण इस जन्ममें ऊँचे कुलमें पैदा होनेसे पवित्र—ये दोनों तो बाह्य

चीजें हैं। कारण कि कर्ममात्र बाहरसे (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीरसे) बनते हैं तो उनसे जो पवित्रता होगी, वह भी बाह्य ही होगी। इस बाह्य शुद्धिके वाचक ही यहाँ ‘पुण्या ब्राह्मणाः’ और ‘राजर्षयः’—ये दो पद आये हैं। परन्तु जो भीतरसे स्वयं भगवान्के शरण होते हैं, उनके लिये अर्थात् स्वयंके लिये यहाँ ‘भक्ताः’ पद आया है।

‘अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्’—यह मनुष्यजन्म अनन्त जन्मोंका अन्त करनेवाला होनेसे अन्तिम जन्म है। इस जन्ममें मनुष्य भगवान्के शरण होकर भगवान्को भी सुख देनेवाला बन सकता है। अतः यह मनुष्यजन्म पवित्र तो है, पर अनित्य है—‘अनित्यम्’ अर्थात् नित्य रहनेवाला नहीं है; किस समय छूट जाय, इसका कुछ पता नहीं है। इसलिये जल्दी-से-जल्दी अपने उद्धारमें लग जाना चाहिये।

इस मनुष्यशरीरमें सुख भी नहीं है—‘असुखम्।’ आठवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्ने मनुष्यजन्मको दुःखालय बताया है। इसलिये मनुष्यशरीर मिलनेपर सुखभोगके लिये ललचाना नहीं चाहिये। ललचानेमें और सुख भोगनेमें अपना भाव और समय खराब नहीं करना चाहिये।

यहाँ ‘इमं लोकम्’ पद मनुष्यशरीरका वाचक है, जो कि केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। मनुष्यशरीर पानेके बाद किसी पूर्वकर्मके कारण भविष्यमें इस जीवका दूसरा जन्म होगा—ऐसा कोई विधान भगवान्ने नहीं बनाया है, प्रत्युत केवल अपनी प्राप्तिके लिये ही यह अन्तिम जन्म दिया है। अगर इस जन्ममें भगवत्प्राप्ति करना, अपना उद्धार करना भूल गये, तो अन्य शरीरोंमें ऐसा मौका मिलेगा नहीं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि इस मनुष्यशरीरको प्राप्त करके केवल मेरा भजन कर। मनुष्यमें जो कुछ विलक्षणता आती

\* यहाँ ‘भक्ताः’ पद देहली-दीपक-न्यायसे ब्राह्मण और राजर्षि (क्षत्रिय)—इन दोनोंके लिये आया है।

है, वह सब भजन करनेसे ही आती है।

‘मां भजस्व’से भगवान्का यह तात्पर्य नहीं है कि मेरा भजन करनेसे मेरेको कुछ लाभ होगा, प्रत्युत तेरेको ही महान् लाभ होगा।\* इसलिये तू तत्परतासे केवल मेरी तरफ ही लग जा, केवल मेरा ही उद्देश्य, लक्ष्य रख। सांसारिक पदार्थोंका आना-जाना तो मेरे विधानसे स्वतः होता रहेगा, पर तू अपनी तरफसे उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका लक्ष्य, उद्देश्य मत रख, उनपर दृष्टि ही मत डाल; उनको महत्त्व ही मत दे। उनसे विमुख होकर तू केवल मेरे सम्मुख हो जा।

### मार्मिक बात

जैसे माताकी दृष्टि बालकके शरीरपर रहती है, ऐसे ही भगवान् और उनके भक्तोंकी दृष्टि प्राणियोंके स्वरूपपर रहती है। वह स्वरूप भगवान्का अंश होनेसे शुद्ध है, चेतन है, अविनाशी है। परन्तु प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़कर वह तरह-तरहके आचरणोंवाला बन जाता है। उनतीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम हूँ। किसी भी प्राणीके प्रति मेरा राग और द्वेष नहीं है। मेरे सिद्धान्तसे, मेरी मान्यतासे और मेरे नियमोंसे सर्वथा विरुद्ध चलनेवाले जो दुराचारी-से-दुराचारी हैं, वे भी जब मेरेमें अपनापन करके मेरा भजन करते हैं तो उनके वास्तविक स्वरूपकी तरफ दृष्टि रखनेवाला मैं उनको पापी कैसे मान सकता हूँ? नहीं मान सकता। और उनके पवित्र होनेमें देरी कैसे लग सकती है? नहीं लग सकती। कारण कि मेरा अंश होनेसे वे सर्वथा पवित्र हैं ही। केवल उत्पन्न और नष्ट होनेवाले आगन्तुक दोषोंको लेकर वे स्वयंसे दोषी कैसे हो सकते हैं? और मैं उनको दोषी कैसे मान सकता हूँ? वे तो केवल उत्पत्ति-विनाशशील शरीरोंके साथ ‘मैं’ और ‘मेरा’-पन करनेके कारण मायाके परवश होकर दुराचारमें, पापाचारमें लग गये थे, पर वास्तवमें वे हैं तो मेरे ही अंश! ऐसे ही जो पापयोनियाले हैं अर्थात् पूर्वके पापोंके कारण जिनका चाण्डाल आदि नीच योनियोंमें और पशु, पक्षी आदि तिर्यक् योनियोंमें जन्म हुआ है, वे तो अपने पूर्वके पापोंसे मुक्त हो रहे हैं। अतः ऐसे पापयोनियाले प्राणी भी मेरे शरण होकर मेरेको पुकारें तो उनका भी उद्धार हो जाता है। इस प्रकार भगवान्ने वर्तमानके पापी और पूर्वजन्मके पापी—इन दो नीचे दर्जेके मनुष्योंका वर्णन किया।

अब आगे भगवान्ने मध्यम दर्जेके मनुष्योंका वर्णन किया। पहले ‘स्त्रियः’ पदसे स्त्री जातिमात्रको लिया। इसमें ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी स्त्रियाँ भी आ गयी हैं, जो वैश्योंके लिये भी वन्दनीया हैं। अतः इनको पहले रखा है। जो ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके समान पुण्यात्मा नहीं हैं, पर द्विजाति हैं, वे वैश्य हैं। जो द्विजाति नहीं हैं अर्थात् जो वैश्योंके समान पवित्र नहीं हैं, वे शूद्र हैं। वे स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र भी मेरा आश्रय लेकर परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। जो उत्तम दर्जेके मनुष्य हैं अर्थात् जो पूर्वजन्ममें अच्छे आचरण होनेसे और इस जन्ममें ऊँचे कुलमें पैदा होनेसे पवित्र हैं, ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रिय भी मेरा आश्रय लेकर परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें सन्देह ही क्या है!

भगवान्ने यहाँ (तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक) भक्तिके सात अधिकारियोंके नाम लिये हैं—दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय। इन सातोंमें सबसे पहले भगवान्को श्रेष्ठ अधिकारीका अर्थात् पवित्र भक्त ब्राह्मण या क्षत्रियका नाम लेना चाहिये था। परन्तु भगवान्ने सबसे पहले दुराचारीका नाम लिया है। इसका कारण यह है कि भक्तिमें जो जितना छोटा और अभिमानरहित होता है, वह भगवान्को उतना ही अधिक प्यारा लगता है। दुराचारीमें अच्छाईका, सद्गुण-सदाचारोंका अभिमान नहीं होता, इसलिये उसमें स्वाभाविक ही छोटापन और दीनता रहती है। अतः भगवान् सबसे पहले दुराचारीका नाम लेते हैं। इसी कारणसे बारहवें अध्यायमें भगवान्ने सिद्ध भक्तोंको प्यारा और साधक भक्तोंको अत्यन्त प्यारा बताया है (बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे बीसवें श्लोकतक)।

अब इस विषयमें एक ध्यान देनेकी बात है कि भगवान्ने यहाँ भक्तिके जो सात अधिकारी बताये हैं, उनका विभाग वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र), आचरण (दुराचारी और पापयोनि) और व्यक्तित्व (स्त्रियाँ)—को लेकर किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि वर्ण (जन्म), आचरण और व्यक्तित्वसे भगवान्की भक्तिमें कोई फरक नहीं पड़ता; क्योंकि इन तीनोंका सम्बन्ध शरीरके साथ है। परन्तु भगवान्का सम्बन्ध स्वरूपके साथ है, शरीरके साथ नहीं। स्वरूपसे तो सभी भगवान्के ही अंश हैं। जब वे भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़कर, उनके सम्मुख होकर भगवान्का भजन करते हैं, तब उनके उद्धारमें कहीं

\* इसी भावको लेकर भगवान्ने यहाँ आत्मनेपदी ‘भजस्व’ क्रिया दी है।

किंचिन्मात्र भी फरक नहीं होता; क्योंकि भगवान्‌के अंश होनेसे वे पवित्र और उद्धारस्वरूप ही हैं। तात्पर्य यह हुआ कि भक्तिके सात अधिकारियोंमें जो कुछ विलक्षणता, विशेषता आयी है, वह किसी वर्ण, आश्रम, भाव, आचरण आदिको लेकर नहीं आयी है, प्रत्युत भगवान्‌के सम्बन्धसे, भगवद्भक्तिके आयी है।

सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें तो भगवान्‌ने भावोंके अनुसार भक्तोंके चार भेद बताये, और यहाँ वर्ण, आचरण एवं व्यक्तित्वके अनुसार भक्तिके अधिकारियोंके सात भेद बताये। इसका तात्पर्य है कि भावोंको लेकर तो भक्तोंमें भिन्नता है, पर वर्ण, आचरण आदिको लेकर कोई भिन्नता नहीं है

**परिशिष्ट भाव**—तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने भक्तिके तथा भगवत्प्राप्तिके सात अधिकारियोंके नाम लिये हैं—दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय। इन सातोंसे बाहर कोई भी प्राणी नहीं है। कैसा ही जन्म हो, कैसी ही जाति हो और पूर्वजन्मके कितने ही पाप हों, पर भगवान्‌ और उनकी भक्तिके मनुष्यमात्र अधिकारी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंका नाम इन श्लोकोंमें आ गया। कोई चारों वर्णोंमें केवल पुरुष-ही-पुरुष न समझ ले, इसलिये स्त्रियोंका नाम अलगसे आया है। जो चारों वर्णोंसे नीचे हैं, वे यवन, हूण, खस आदि सब पापयोनिमें आ गये। मनुष्योंके सिवाय दूसरे जीव (पशु, पक्षी आदि) भी पापयोनिमें लिये जा सकते हैं; क्योंकि जीवमात्र भगवान्‌का ही अंश होनेसे भगवान्‌की तरफ चलनेमें (भगवान्‌की ओरसे) किसीके लिये भी मनाही नहीं है।

जो वर्तमानमें पाप कर रहा है, वह 'दुराचारी' है और पूर्वजन्मके पापोंके कारण जिसका नीच योनिमें जन्म हुआ है, वह 'पापयोनि' है। तात्पर्य है कि दुराचारी-से-दुराचारी और नीच-से-नीच योनिवाला भी भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है। अतः जाति और आचरणको लेकर मनुष्यको भगवत्प्राप्तिके निराश नहीं होना चाहिये। जाति और आचरण अनित्य तथा बनावटी हैं, पर भगवान्‌के साथ मनुष्यका सम्बन्ध नित्य तथा वास्तविक है। इसलिये भगवान्‌ केवल भक्तिका नाता (सम्बन्ध) ही मानते हैं, जाति-आचरणका नहीं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता ॥

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई ॥

भगति हीन नर सोहड़ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा ॥

(मानस, अरण्य० ३५। २-३)

संसारमें लोग बाहरके जाति-आचरणको देखते हैं, भीतरके तत्त्व-(वास्तविकता-) को नहीं देखते; परन्तु भगवान्‌ तत्त्वको देखते हैं कि यह सदासे ही मेरा अंश है!

सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने भीतरके भावोंको लेकर भक्तोंके अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार भेद बताये हैं और यहाँ बाहरकी मान्यता-(जाति तथा आचरण-) को लेकर लौकिक दृष्टिके भक्तोंके सात भेद बताये हैं। सातवें अध्यायमें तो उन भक्तोंकी बात है, जो भगवान्‌में लगे हुए हैं और यहाँ उन मनुष्योंकी बात है, जो भगवान्‌में लग सकते हैं। तात्पर्य है कि वर्ण, आश्रम, वेश-भूषा, जाति, सम्प्रदाय आदि अलग-अलग होते हुए भी सभी मनुष्य अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकारके भक्त बन सकते हैं और भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं। भगवत्प्राप्तिके विषयमें सब एक है, कोई छोटा-बड़ा नहीं है। भगवत्प्राप्तिका अनधिकारी किसी भी योनिमें कोई है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।

**'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा'**—इस श्लोकार्धके बीचमें 'भक्ताः' पद देनेका तात्पर्य है कि पवित्र आचरणवाले ब्राह्मणोंकी और ऋषिस्वरूप क्षत्रियोंकी महिमा नहीं है, प्रत्युत उनमें जो भक्ति है, उस भक्तिकी महिमा है। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌का न तो दुराचारी तथा पापयोनिके साथ द्वेष है और न पुण्यात्मा ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके साथ पक्षपात

है। वे तो सब प्राणियोंमें समान हैं (गीता—इसी अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। परन्तु जो प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन करता है, वह किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, उसका भगवान्से घनिष्ठ सम्बन्ध है—‘मयि ते तेषु चाप्यहम्’ (गीता ९। २९)। अतः दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये सातों भक्तिमें एक हो जाते हैं, इनमें कोई भेद नहीं रहता। इसलिये भगवान् भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—‘भजस्व माम्’। भजन करनेका अर्थ है—भगवान्के सम्मुख होना, भगवान्में प्रियता (अपनापन) होना, भगवान्की प्राप्तिका उद्देश्य होना। भगवद्बुद्धिसे दूसरोंकी सेवा करना, दूसरोंको देनेका भाव रखना, अभावग्रस्तोंकी सहायता करना—यह भी भजन है।

‘अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्’—अनित्य और सुखरहित इस शरीरको पाकर अर्थात् हम जीते रहें और सुख भोगते रहें—ऐसी कामनाको छोड़कर भगवान्का भजन करना चाहिये। कारण कि संसारमें सुख है ही नहीं, केवल सुखका भ्रम है। ऐसे ही जीनेका भी भ्रम है। हम जी नहीं रहे हैं, प्रत्युत प्रतिक्षण मर रहे हैं!

पहले उनतीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा था कि जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ। इसलिये यहाँ भगवान् भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—‘भजस्व माम्’।

सम्बन्ध—उनतीसवें श्लोकसे लेकर तैंतीसवें श्लोकतक भगवान्के भजनकी ही बात मुख्य आयी है। अब आगेके श्लोकमें उस भजनका स्वरूप बताते हैं।

**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।**

**मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥**

मद्भक्तः	= (तू) मेरा भक्त	माम्	= (और) मुझे	मत्परायणः	= मेरे परायण हुआ
भव	= हो जा,	नमस्कुरु	= नमस्कार कर।		(तू)
मन्मनाः	= मुझमें मनवाला हो जा,	एवम्	= इस प्रकार	माम्	= मुझे
मद्याजी	= मेरा पूजन करनेवाला हो जा	आत्मानम्	= अपने-आपको	एव	= ही
		युक्त्वा	= (मेरे साथ) लगाकर	एष्यसि	= प्राप्त होगा।

व्याख्या—[अपने हृदयकी बात वहीं कही जाती है, जहाँ सुननेवालेमें कहनेवालेके प्रति दोषदृष्टि न हो, प्रत्युत आदरभाव हो। अर्जुन दोषदृष्टिसे रहित हैं, इसलिये भगवान्ने उनको ‘अनसूयवे’ (९। १) कहा है। इसी कारण भगवान् यहाँ अर्जुनके सामने अपने हृदयकी गोपनीय बात कह रहे हैं।]

‘मद्भक्तः’—‘मेरा भक्त हो जा’ कहनेका तात्पर्य है कि तू केवल मेरे साथ ही अपनापन कर; केवल मेरे साथ ही सम्बन्ध जोड़, जो कि अनादिकालसे स्वतःसिद्ध है। केवल भूलसे ही शरीर और संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान रखा है अर्थात् ‘मैं अमुक वर्णका हूँ, अमुक आश्रमका हूँ, अमुक सम्प्रदायका हूँ, अमुक नामवाला हूँ’—इस प्रकार वर्ण, आश्रम आदिको अपनी अहंतामें मान रखा है। इसलिये अब असत्-रूपसे बनी हुई अवास्तविक अहंताको वास्तविक सत्-रूपमें बदल दे कि ‘मैं तुम्हारा हूँ और तुम

मेरे हो’। फिर तेरा मेरे साथ स्वाभाविक ही अपनापन हो जायगा, जो कि वास्तवमें है।

‘मन्मना भव’—मन वहीं लगता है, जहाँ अपनापन होता है, प्रियता होती है। तेरा मेरे साथ जो अखण्ड सम्बन्ध है, उसको मैं तो नहीं भूल सकता, पर तू भूल सकता है; इसलिये तेरेको ‘मेरेमें मनवाला हो जा’—ऐसा कहना पड़ता है।

‘मद्याजी’—‘मेरा पूजन करनेवाला हो’ अर्थात् तू खाना-पीना, सोना-जगना, आना-जाना, काम-धन्धा करना आदि जो कुछ क्रिया करता है, वह सब-की-सब मेरी पूजाके रूपमें ही कर; उन सबको मेरी पूजा ही समझ।

‘मां नमस्कुरु’—‘मेरेको नमस्कार कर’ कहनेका तात्पर्य है कि मेरा जो कुछ अनुकूल, प्रतिकूल या सामान्य विधान हो, उसमें तू परम प्रसन्न रह। मैं चाहे तेरे मन और मान्यतासे सर्वथा विरुद्ध फैसला दे दूँ, तो भी उसमें तू प्रसन्न



रह। जो मनुष्य हानि और परलोकके भयसे मेरे चरणोंमें पड़ते हैं, मेरे शरण होते हैं, वे वास्तवमें अपने सुख और सुविधाके ही शरण होते हैं, मेरे शरण नहीं। मेरे शरण होनेपर किसीसे कुछ भी सुख-सुविधा पानेकी इच्छा होती है तो वह सर्वथा मेरे शरणागत कहाँ हुआ? कारण कि वह जबतक कुछ-न-कुछ सुख-सुविधा चाहता है, तबतक वह अपना कुछ स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है।

वास्तवमें मेरे चरणोंमें पड़ा हुआ वही माना जाता है, जो अपनी कुछ भी मान्यता न रखकर मेरी मरजीमें अपने मनको मिला देता है। उसमें मेरेसे ही नहीं प्रत्युत संसारमात्रसे भी अपनी सुख-सुविधा, सम्मानकी किंचित् गन्धमात्र भी नहीं रहती। अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होनेपर भी उसपर उसका कुछ भी असर नहीं होता अर्थात् मेरे द्वारा कोई अनुकूल-प्रतिकूल घटना घटती है, तो मेरे परायण रहनेवाले भक्तकी उस घटनामें विषमता नहीं होती। अनुकूल-प्रतिकूलका ज्ञान होनेपर भी वह घटना उसको दो रूपसे नहीं दीखती, प्रत्युत केवल मेरी कृपारूपसे दीखती है।

मेरा किया हुआ विधान चाहे शरीरके अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल हो, मेरे विधानसे कैसी भी घटना घटे, उसको मेरा दिया हुआ प्रसाद मानकर परम प्रसन्न रहना चाहिये। अगर मनके प्रतिकूल-से-प्रतिकूल घटना घटती है, तो उसमें मेरी विशेष कृपा माननी चाहिये; क्योंकि उस घटनामें उसकी सम्मति नहीं है। अनुकूल घटनामें उसकी जितने अंशमें सम्मति हो जाती है, उतने अंशमें वह घटना उसके लिये अपवित्र हो जाती है। परन्तु प्रतिकूल घटनामें केवल मेरा ही किया हुआ शुद्ध विधान होता है—इस बातको लेकर उसको परम प्रसन्न होना चाहिये।

मनुष्य प्रतिकूल घटनाको चाहता नहीं, करता नहीं और उसमें उसका अनुमोदन भी नहीं रहता, फिर भी ऐसी घटना घटती है, तो उस घटनाको उपस्थित करनेमें कोई भी निमित्त क्यों न बने और वह भी भले ही किसीको निमित्त मान ले, पर वास्तवमें उस घटनाको घटानेमें मेरा ही हाथ है, मेरी ही मरजी है\*। इसलिये मनुष्यको उस घटनामें दुःखी होना और चिन्ता करना तो दूर रहा, प्रत्युत उसमें अधिक-से-अधिक प्रसन्न होना चाहिये। उसकी यह प्रसन्नता मेरे विधानको लेकर नहीं होनी चाहिये; किन्तु मेरेको (विधान करनेवालेको) लेकर होनी चाहिये। कारण कि अगर उसमें उस मनुष्यका मंगल न होता, तो

प्राणिमात्रका परमसुहृद् मैं उसके लिये ऐसी घटना क्यों घटाता? इसी प्रकार हे अर्जुन! तू भी सर्वथा मेरे चरणोंमें पड़ जा अर्थात् मेरे प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्न रह।

जैसे, कोई किसीका अपराध करता है, तो वह उसके सामने जाकर लम्बा पड़ जाता है और उससे कहता है कि आप चाहे दण्ड दें, चाहे पुरस्कार दें, चाहे दुत्कार दें, चाहे जो करें, उसीमें मेरी परम प्रसन्नता है। उसके मनमें यह नहीं रहता कि सामनेवाला मेरे अनुकूल ही फैसला दे। ऐसे ही भक्त भगवान्के सर्वथा शरण हो जाता है, तो भगवान्से कह देता है कि 'हे प्रभो! मैंने न जाने किन-किन जन्मोंमें आपके प्रतिकूल क्या-क्या आचरण किये हैं, इसका मेरेको पता नहीं है। परन्तु उन कर्मोंके अनुरूप आप जो परिस्थिति भेजेंगे, वह मेरे लिये सर्वथा कल्याणकारक ही होगी। इसलिये मेरेको किसी भी परिस्थितिमें किंचिन्मात्र भी असन्तोष न होकर प्रसन्नता-ही-प्रसन्नता होगी।'

'हे नाथ! मेरे कर्मोंका आप कितना खयाल रखते हैं कि मैंने न जाने किस-किस जन्ममें, किस-किस परिस्थितिमें परवश होकर क्या-क्या कर्म किये हैं, उन सम्पूर्ण कर्मोंसे सर्वथा रहित करनेके लिये आप कितना विचित्र विधान करते हैं! मैं तो आपके विधानको किंचिन्मात्र भी समझ नहीं सकता और मेरेमें आपके विधानको समझनेकी शक्ति भी नहीं है। इसलिये हे नाथ! मैं उसमें अपनी बुद्धि क्यों लगाऊँ? मेरेको तो केवल आपकी तरफ ही देखना है। कारण कि आप जो कुछ विधान करते हैं, उसमें आपका ही हाथ रहता है अर्थात् वह आपका ही किया हुआ होता है, जो कि मेरे लिये परम मंगलमय है। यही 'मां नमस्कुरु' का तात्पर्य है।

'मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः'—यहाँ 'एवम्' का तात्पर्य है कि 'मद्भक्तः' से तू स्वयं मेरे अर्पित हो गया, 'मन्मनाः' से तेरा अन्तःकरण मेरे परायण हो गया, 'मद्याजी' से तेरी मात्र क्रियाएँ और पदार्थ मेरी पूजा-सामग्री बन गये और 'मां नमस्कुरु' से तेरा शरीर मेरे चरणोंके अर्पित हो गया। इस प्रकार मेरे परायण हुआ तू मेरेको ही प्राप्त होगा।

'युक्तवैवमात्मानम्' (अपने-आपको मेरेमें लगाकर) कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि 'मैं भगवान्का ही हूँ' ऐसे अपनी अहंताका परिवर्तन होनेपर शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, क्रिया—ये सब-के-सब मेरेमें ही लग

\* राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥ (मानस १।१२८।१)

जायँगे। इसीका नाम शरणागति है। ऐसी शरणागति होनेपर मेरी ही प्राप्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं है। मेरी प्राप्तिमें सन्देह वहीं होता है, जहाँ मेरे सिवाय दूसरेकी कामना है, आदर है, महत्त्वबुद्धि है। कारण कि कामना, महत्त्वबुद्धि, आसक्ति आदि होनेपर सब जगह परिपूर्ण रहते हुए भी मेरी प्राप्ति नहीं होती।

‘मत्परायणः’ का तात्पर्य है कि मेरी मरजीके बिना कुछ भी करने-करानेकी किंचिन्मात्र भी स्फुरणा नहीं रहे। मेरे साथ सर्वथा अभिन्न होकर मेरे हाथका खिलौना बन जाय।

### विशेष बात

(१)

भगवान्का भक्त बननेसे, भगवान्के साथ अपनापन करनेसे, ‘मैं भगवान्का हूँ’ इस प्रकार अहंताको बदल देनेसे मनुष्यमें बहुत जल्दी परिवर्तन हो जाता है। वह परिवर्तन यह होगा कि वह भगवान्में मनवाला हो जायगा, भगवान्का पूजन करनेवाला बन जायगा और भगवान्के मात्र विधानमें प्रसन्न रहेगा। इस प्रकार इन चारों बातोंसे शरणागति पूर्ण हो जाती है। परन्तु इन चारोंमें मुख्यता भगवान्का भक्त बननेकी ही है। कारण कि जो स्वयं भगवान्का हो जाता है, उसके न मन-बुद्धि अपने रहते हैं, न पदार्थ और क्रिया अपने रहते हैं और न शरीर अपना रहता है। तात्पर्य है कि लौकिक दृष्टिमें जो अपनी कहलानेवाली चीजें हैं, जो कि उत्पन्न और नष्ट होनेवाली हैं, उनमेंसे कोई भी चीज अपनी नहीं रहती। स्वयंके अर्पित हो जानेसे मात्र प्राकृत चीजें भगवान्की ही हो जाती हैं। उनमेंसे अपनी ममता उठ जाती है। उनमें ममता करना ही गलती थी, वह गलती सर्वथा मिट जाती है।

(२)

मनुष्य संसारके साथ कितनी ही एकता मान लें, तो भी वे संसारको नहीं जान सकते। ऐसे ही शरीरके साथ कितनी ही अभिन्नता मान लें, तो भी वे शरीरके साथ एक नहीं हो सकते और उसको जान भी नहीं सकते। वास्तवमें संसार-शरीरसे अलग होकर ही उनको जान सकते हैं। इस रीतिसे परमात्मासे अलग रहते हुए परमात्माको यथार्थरूपसे नहीं जान सकते। परमात्माको तो वे ही जान सकते हैं, जो परमात्मासे एक हो गये हैं अर्थात् जिन्होंने ‘मैं’ और ‘मेरा’-पन सर्वथा भगवान्के

समर्पित कर दिया है। ‘मैं’ और ‘मेरा’-पन तो दूर रहा, ‘मैं’ और ‘मेरे’-पनकी गन्ध भी अपनेमें न रहे कि मैं भी कुछ हूँ, मेरा भी कोई सिद्धान्त है, मेरी भी कुछ मान्यता है आदि।

जैसे, प्राणी शरीरके साथ अपनी एकता मान लेता है, तो स्वाभाविक ही शरीरका सुख-दुःख अपना सुख-दुःख दीखता है। फिर उसको शरीरसे अलग अपने अस्तित्वका भान नहीं होता। ऐसे ही भगवान्के साथ अपनी स्वतःसिद्ध एकताका अनुभव होनेपर भक्तका अपना किंचिन्मात्र भी अलग अस्तित्व नहीं रहता। जैसे संसारमें भगवान्की मरजीसे जो कुछ परिवर्तन होता है, उसका भक्तपर असर नहीं पड़ता, ऐसे ही उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरमें जो कुछ परिवर्तन होता है, उसका उसपर कुछ भी असर नहीं पड़ता। उसके शरीरद्वारा भगवान्की मरजीसे स्वतः-स्वाभाविक क्रिया होती रहती है। यही वास्तवमें भगवान्की परायणता है।

भगवान्को प्राप्त होनेका तात्पर्य है कि भगवान्के साथ अभिन्नता हो जाती है, जो कि वास्तविकता है। यह अभिन्नता भेदभावसे भी होती है और अभेदभावसे भी होती है। जैसे, श्रीजीकी भगवान् श्रीकृष्णके साथ अभिन्नता है। मूलमें भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रीजी और श्रीकृष्ण—इन दो रूपोंमें प्रकट हुए हैं। दो रूप होते हुए भी श्रीजी भगवान्से भिन्न नहीं हैं और भगवान् श्रीजीसे भिन्न नहीं हैं। परन्तु परस्पर रस-(प्रेम-) का आदान-प्रदान करनेके लिये उनमें योग और वियोगकी लीला होती रहती है। वास्तवमें उनके योगमें भी वियोग है और वियोगमें भी योग है अर्थात् योगसे वियोग और वियोगसे योग पुष्ट होता रहता है, जिसमें अनिर्वचनीय प्रेमकी वृद्धि होती रहती है। इस अनिर्वचनीय और प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमको प्राप्त हो जाना ही भगवान्को प्राप्त होना है।

### सातवें और नवें अध्यायके विषयकी एकता

सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने विज्ञानसहित ज्ञान अर्थात् राजविद्याको पूर्णतया कहनेकी प्रतिज्ञा की थी— ‘ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः’ (७।२)। सातवें अध्यायमें भगवान्के कहनेका जो प्रवाह चल रहा था, आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके प्रश्न करनेसे उसमें कुछ परिवर्तन आ गया। अतः आठवें अध्यायका विषय समाप्त होते ही भगवान् अर्जुनके बिना पूछे ही ‘इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं.....’ (९।१)

कहकर अपनी तरफसे पुनः विज्ञानसहित ज्ञान कहना शुरू कर देते हैं। सातवें अध्यायमें भगवान्ने जो विषय तीस श्लोकोंमें कहा था, उसी विषयको नवें अध्यायके आरम्भसे लेकर दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक लगातार कहते ही चले जाते हैं। इन श्लोकोंमें कही हुई बातोंका अर्जुनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है, जिससे वे दसवें अध्यायके बारहवें श्लोकसे अठारहवें श्लोकतक भगवान्की स्तुति और प्रार्थना करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि सातवें अध्यायमें कही गयी बातको भगवान्ने नवें अध्यायमें संक्षेपसे, विस्तारसे अथवा प्रकारान्तरसे कहा है।

सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'मय्यासक्तमनाः' आदि पदोंसे जो विषय संक्षेपसे कहा था, उसीको नवें अध्यायके चौतीसवें श्लोकमें 'मन्मनाः' आदि पदोंसे थोड़ा विस्तारसे कहा है।

सातवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्ने कहा कि मैं विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा; जिसको जाननेसे फिर जानना बाकी नहीं रहेगा। यही बात भगवान्ने नवें अध्यायके पहले श्लोकमें कही कि मैं विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा जिसको जानकर तू अशुभ-(संसार-)से मुक्त हो जायगा। मुक्ति होनेसे फिर जानना बाकी नहीं रहता। इस प्रकार भगवान्ने सातवें और नवें—दोनों ही अध्यायोंके आरम्भमें विज्ञानसहित ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा की और दोनोंका एक फल बताया।

सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने कहा कि हजारोंमेंसे कोई एक मनुष्य वास्तविक सिद्धिके लिये यत्न करता है और यत्न करनेवालोंमें कोई एक मेरेको तत्त्वसे जानता है। इसका कारण नवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें बताते हैं कि इस विज्ञानसहित ज्ञानपर श्रद्धा न रखनेसे मनुष्य मेरेको प्राप्त न हो करके मौतके रास्तेमें चले जाते हैं अर्थात् बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं।

सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण जगत्का प्रभव और प्रलय बताया। यही बात नवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'प्रभवः प्रलयः' पदोंसे बतायी।

सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भगवान्ने अपनेको सनातन बीज बताया और नवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें अपनेको अव्यय बीज बताया।

सातवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें 'न त्वहं तेषु ते मयि' कहकर जिस राजविद्याका संक्षेपसे वर्णन किया था,

उसीका नवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकमें विस्तारसे वर्णन किया है।

सातवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्ने सम्पूर्ण प्राणियोंको तीनों गुणोंसे मोहित बताया और नवें अध्यायके आठवें श्लोकमें सम्पूर्ण प्राणियोंको प्रकृतिके परवश हुआ बताया।

सातवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि जो मनुष्य मेरे ही शरण हो जाते हैं, वे मायाको तर जाते हैं और नवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें कहा कि जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।

सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्ने 'न मां दुष्कृतिनो मूढाः' कहा था, उसीको नवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'अवजानन्ति मां मूढाः' कहा है।

सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्ने 'आसुरं भावमाश्रिताः' पदोंसे जो बात कही थी, वही बात नवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें 'राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः' पदोंसे कही है।

सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें जिनको 'सुकृतिनः' कहा था, उनको ही नवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें 'महात्मानः' कहा है।

सातवें अध्यायके सोलहवेंसे अठारहवें श्लोकतक सकाम और निष्कामभावको लेकर भक्तोंके चार प्रकार बताये; और नवें अध्यायके तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक वर्ण, आचरण और व्यक्तिको लेकर भक्तोंके सात भेद बताये।

सातवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने महात्माकी दृष्टिसे 'वासुदेवः सर्वम्' कहा और नवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने अपनी दृष्टिसे 'सदसच्चाहम्' कहा।

भगवान्से विमुख होकर अन्य देवताओंमें लगनेमें खास दो ही कारण हैं—पहला कामना और दूसरा भगवान्को न पहचानना। सातवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें कामनाके कारण देवताओंके शरण होनेकी बात कही गयी और नवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भगवान्को न पहचाननेके कारण देवताओंका पूजन करनेकी बात कही गयी।

सातवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें सकाम पुरुषोंको अन्तवाला (नाशवान्) फल मिलनेकी बात कही और नवें

अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें सकाम पुरुषोंके आवागमनको प्राप्त होनेकी बात कही।

सातवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि देवताओंके भक्त देवताओंको और मेरे भक्त मेरेको प्राप्त होते हैं। यही बात भगवान्ने नवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें भी कही।

सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्ने जो 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः' कहा था, उसीको नवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकके पूर्वार्धमें 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्' कहा है। ऐसे

**परिशिष्ट भाव**—इस श्लोकमें अहंता-परिवर्तनकी बात मुख्य है। भक्त 'मैं भगवान्का हूँ'—इस प्रकार अपनी अहंताको बदलता है और खुदका सम्बन्ध भगवान्से जोड़ता है। वह साधननिष्ठ न होकर भगवनिष्ठ होता है। इसलिये उसको संसारके सम्बन्धका त्याग करना नहीं पड़ता, प्रत्युत वह स्वतः छूट जाता है। कारण कि वर्ण, आश्रम, जाति, योग्यता, अधिकार, कर्म, गुण आदिका भेद होनेपर भी ये सब आगन्तुक हैं, पर स्वयंके साथ भगवान्का सम्बन्ध आगन्तुक नहीं है, प्रत्युत अनादि, नित्य और स्वतःसिद्ध है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'राजविद्याराजगुह्ययोग' नामक नवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ ९ ॥

इस अध्यायमें भगवान्ने जो 'मया ततमिदं सर्वम्' आदि उपदेश दिया है, वह सब विद्याओंका राजा है और जो भगवान्ने अपने-आपको प्रकट करके अर्जुनको अपने शरण होने और अपनेमें मन लगानेके लिये कहा है, वह सम्पूर्ण गोपनीय भावोंका राजा है। इन दोनों—(राजविद्या और राजगुह्य—) को तत्त्वसे समझ लेनेपर 'योग'—(नित्य-योग—)का अनुभव हो जाता है। अतः इस अध्यायका नाम 'राजविद्याराजगुह्ययोग' रखा गया है।

**नवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच**

(१) इस अध्यायमें 'अथ नवमोऽध्यायः' के तीन, 'श्रीभगवानुवाच' के दो, श्लोकोंके चार सौ छियालीस और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग चार सौ चौंसठ है।

(२) 'अथ नवमोऽध्यायः' के सात, 'श्रीभगवानुवाच' के सात, श्लोकोंके एक हजार एक सौ बारह और पुष्पिकाके इक्कावन अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका

ही सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें जो 'परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्' कहा था, उसीको नवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकके उत्तरार्धमें 'परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्' कहा है।

सातवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भगवान्ने 'सर्गे यान्ति' कहा था, उसीको नवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'मृत्युसंसारवर्त्मनि' कहा है।

सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें भगवान्ने अपनेको जाननेकी बात मुख्य बतायी है और नवें अध्यायके चौतीसवें श्लोकमें भगवान्ने अर्पण करनेकी बात मुख्य बतायी है।

योग एक हजार एक सौ सतहत्तर है। इस अध्यायके चौतीस श्लोकोंमेंसे बीसवाँ और इक्कीसवाँ—ये दो श्लोक चौवालीस अक्षरोंके हैं और शेष बत्तीस श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें एक उवाच है—'श्रीभगवानुवाच'।  
**नवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द**

इस अध्यायके चौतीस श्लोकोंमेंसे बीसवाँ और इक्कीसवाँ—ये दो श्लोक 'उपजाति' छन्दवाले हैं। बचे हुए बत्तीस श्लोकोंमेंसे—पहले श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' और तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'संकीर्ण-विपुला'; दूसरे श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'र-विपुला'; तीसरे और दसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला'; सत्रहवें श्लोकके प्रथम चरणमें और तेरहवें तथा छब्बीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष पचीस श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

## नवें अध्यायका सार

भगवान्ने सातवें अध्यायसे 'ज्ञान' और 'विज्ञान' का विषय कहना आरम्भ किया है। 'ज्ञान'से संसारसे मुक्ति होती है और 'विज्ञान'से भगवान्में प्रेम होता है। बीचमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर आठवें अध्यायमें दूसरा विषय चला। परन्तु नवें अध्यायसे भगवान् पुनः वही विषय कहना आरम्भ करते हैं।

सातवें अध्यायमें भगवान्ने संसारकी उत्पत्तिका कारण बताया कि परा और अपरा—इन दोनों मेरी प्रकृतियोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है (छठा श्लोक)। परन्तु नवें अध्यायमें संसारकी स्थिति बताते हैं कि जिनकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, उन साधकोंके लिये संसार मेरेमें है और मैं संसारमें हूँ (चौथा, पाँचवाँ, छठा श्लोक)। इसीको छठे अध्यायमें कहा है—'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति' (६। ३०)। परन्तु जिन सिद्ध महापुरुषोंकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उनकी दृष्टिमें एक मैं-ही-मैं हूँ—'वासुदेवः सर्वम्'।

भगवान् कहते हैं कि यद्यपि सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला तथा धारण करनेवाला मैं ही हूँ, तथापि मैं उन प्राणियोंके आश्रित नहीं हूँ, प्रत्युत वे प्राणी ही मेरे आश्रित हैं (नवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। जैसे आकाशमें रहनेवाली वायु आकाशके आश्रित होती है, पर आकाश वायुके आश्रित नहीं होता, ऐसे ही परा और अपरा प्रकृति तो भगवान्का स्वभाव होनेसे भगवान्के आश्रित (अधीन) है, पर भगवान् परा और अपरा प्रकृतिके आश्रित नहीं हैं। इसलिये जैसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही स्थित रहती है और आकाशमें ही लीन होती है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी महासर्गमें भगवान्से ही प्रकट होते हैं, भगवान्में ही स्थित रहते हैं और महाप्रलयमें भगवान्में ही लीन होते हैं (सातवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिके आश्रित हैं और प्रकृति भगवान्के आश्रित है (आठवाँ श्लोक)। दूसरे शब्दोंमें, भगवान्के एक अंशमें प्रकृति है और प्रकृतिके एक अंशमें प्राणी हैं। इसलिये सृष्टिकी रचना करनेपर भी भगवान् सृष्टि-रचनारूप कर्मसे बँधते नहीं (नवाँ श्लोक); क्योंकि वास्तवमें सृष्टि-रचनाका कार्य भगवान्के आश्रित रहनेवाली प्रकृति ही करती है (दसवाँ श्लोक)। इस रहस्यको न जाननेके कारण बेसमझ लोग भगवान्को भी अपनी तरह शरीर-(अपरा- )के आश्रित मान लेते हैं कि जैसे हम शरीरके बिना नहीं रह सकते, ऐसे ही भगवान् भी शरीरके बिना नहीं रह सकते (ग्यारहवाँ श्लोक)। ऐसे लोग आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिके आश्रित रहनेवाले होते हैं (बारहवाँ श्लोक)। वास्तवमें जैसे मनुष्यमें शरीर और शरीरीका भेद रहता है, ऐसे भगवान्में शरीर-शरीरीका भेद नहीं है—'सदसच्चाहमर्जुन' (९। १९)। इसलिये जो मनुष्य भगवान्को प्रकृतिके आश्रित नहीं समझते, वे दैवी प्रकृतिके आश्रित रहनेवाले होते हैं अर्थात् वे प्रकृतिके आश्रित न होकर भगवान्के आश्रित होते हैं (तेरहवाँ श्लोक)। भगवान्के आश्रित होनेके कारण वे 'महात्मा' कहलाते हैं।

कर्मयोग 'शरीर'-(अपरा- ) की मुख्यतासे चलता है और ज्ञानयोग 'शरीरी'-(परा- ) की मुख्यतासे चलता है। एक देश-(शरीर अथवा शरीरी- ) को लेकर चलनेसे कर्मयोगी और ज्ञानयोगी एकदेशीय होते हैं। परन्तु भक्तियोग भगवान्की मुख्यतासे चलता है। इसलिये भक्तको भगवान्ने 'महात्मा' अर्थात् महान् आत्मा कहा है। वे अनन्यमनसे भगवान्का भजन करते हैं। कारण कि जब उनकी दृष्टिमें एक भगवान्के सिवाय अन्यकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, तो फिर उनका मन भगवान्को छोड़कर कहाँ जाय? इसलिये वे भगवान्में नित्ययुक्त रहते हैं, कभी भगवान्से अलग होते ही नहीं—'नित्ययुक्ताः' (९। १४), 'नित्याभियुक्तानाम्' (९। २२)।

साधक कई प्रकारके होते हैं और अलग-अलग साधनोंसे भिन्न-भिन्न उपास्यदेवोंकी उपासना करते हैं। परन्तु वास्तवमें उन सभी साधकोंके द्वारा एक ही समग्र भगवान्की उपासना होती है—'मामुपासते' (९। १५), 'त्रैविद्या माम्' (९। २०), 'तेऽपि मामेव' (९। २३), 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' (९। २४)। कारण कि एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं (९। १६—१९)। इस रहस्यको न समझनेके कारण जो लोग अपने उपास्यदेवको भगवान्से अलग मानकर सकामभावसे उनकी उपासना करते हैं, उनकी उपासना वास्तवमें भगवान्की होनेपर भी

अविधिपूर्वक होती है। इसलिये उनका पतन हो जाता है अर्थात् वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं (नवें अध्यायका तेईसवाँ-चौबीसवाँ श्लोक)। परन्तु भगवान्की उपासना करनेवाले भगवान्को ही प्राप्त होते हैं।

जो लोग भगवान्को छोड़कर अन्य देवी-देवताओंकी उपासना करते हैं, उनको अनेक नियमों, विधियों आदिकी जरूरत पड़ती है, जिसमें बड़ी कठिनता होती है। परन्तु भगवान्की उपासनमें भावकी जरूरत है, क्रियाओं-(नियमों, विधियों आदि-) की जरूरत नहीं है (नवें अध्यायका छब्बीसवाँ-सत्ताईसवाँ श्लोक)। भगवान् क्रियाग्राही नहीं हैं, प्रत्युत भावग्राही हैं—‘**भावग्राही जनार्दनः**’। इसलिये भक्तको सुगमतापूर्वक भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, मनुष्य किसी भी आचरण, वर्ण, आश्रम, जाति आदिका क्यों न हो, वह भगवान्का भक्त होकर सुगमतापूर्वक भगवान्को प्राप्त हो सकता है (नवें अध्यायके तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक)।

नवें अध्यायके अन्तमें भगवान् कहते हैं—‘**मन्मना भव०**’ (९। ३४)। इसका तात्पर्य है कि जो कुछ भी है, वह मैं ही हूँ, मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं (सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)। इस बातको दृढ़तासे स्वीकार करना ही ‘**मन्मना भव०**’ आदि पदोंका तात्पर्य है।